श्री राजेश्वरप्रसादसिंह

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

१९४३

विषय-सूची

ग्वालिन

उधर सवेरा हुआ, इधर व्रज की एक नवेली ग्वालिन पीतल का एक चमकता हुआ कलसा लिये हुए घर से निकल पडी—उन्मादिनी-सी निकल पडी। उस समय आकाश मे श्रावण की काली-काली घटायें उमड़ने लगीं और सुन्दरी के नन्हे-से हृदय में सांवरे चित्त-चोर से मिलने की चाह ज़ोर पकडने लगी। उसे वृद्धो ने देखा, जैसे स्नेह सौम्य सौन्दर्य को देखता; युवती सहेलियों ने देखा जैसे विवश ईर्ष्या अदम्य उत्साह को देखती है। किन्तु सुन्दरी ने किसी को नहीं देखा। वह कैसे देखती, किन आँखों से?

गाँव से निकलकर ग्वालिन नदी-तट की ओर जानेवाले मार्ग पर वेग से चलने लगी। उसके मुख-मण्डल पर एक स्वर्गीय आभा झलक रही थी। समुज्ज्वल ललाट पर पसीने की लडियाँ उभरी हुई थीं, बडी-बडी काली आँखें सुदूर कुसुम-कुञ्जो के धुँधले माया-जाल में उलझी हुई थीं, कोमल अरुण-कपोलों पर श्यामवर्ण केश लहरा रहे थे, गुलाबी अधर-पंक्तियों पर एक अलौकिक मुसकान नृत्य कर रही थी। नहीं, उसका अङ्ग-अङ्ग मुस्करा रहा था। वे लता-समान बाँहें, वह बलखाती कमर, वे सुकोमल नन्हे-नन्हे पाँव। हाँ, और वह मदोन्मत्त अञ्चल-कोर भी! पवन-देव उन कुसुम-कोमल चरणों की रज ले-लेकर चारों ओर दिशाओं में दौडने लगे। फिर मेघाच्छादित गगन से जल की फुहार छूटने लगी, मानो फूलों की झडी हो।

तट निकट आ गया। युवती के आतुर नेत्र आगे बढ़कर, लौटकर, इधर-उधर फिरकर किसी को खोजने लगे। वह पुष्पों और लताओं से ढके हुए कुञ्ज सूने न थे। उनमें पक्षी गान करते थे, गायें घण्टियाँ

बजाती थीं, बछड़े किलोलें करते थे। किन्तु सुन्दरी के लिए वे शून्य-सरीखे थे—नहीं, उससे अधिक दुखदाई। हाँ, वह कहाँ था जिसे उसकी आँखें खोजती थीं, हृदय खोजता था। हाँ, वह कहाँ था! हार कर, वह जल के निकट गई, कलसा एक ओर पटक दिया, लद से रेत पर बैठ गई और घुटनों को करों से बाँध कर मन्द गति से बहते हुए जल की ओर शून्य दृष्टि से ताकने लगी। कलसा लुढ़कता हुआ बढ़ा और रेती पर लेट कर जल-अधर का चुम्बन करने लगा। छोटी-छोटी चञ्चल लहरें उसे छू-छूकर भागने और उसके खुले हुए, हँसते मुख पर जल की फुहारें छोड़ने लगीं। यह दृश्य देखकर युवती की उदास मुखाकृति भी मुस्करा दी। किन्तु दूसरे ही क्षण उसके हृदय पर गहरी चोट लगी। मुसकान गाम्भीर्य में परिणत हो गई। कलसे से हटकर उसके नेत्र उस स्थान पर विचरण करने लगे जहाँ मेघपंक्ति जल से मिली दिखाई देती थी और एक गिरि-श्रेणी-सी बन गई थी। स्मृतियाँ उड़ उड़कर आने लगी।

सहसा एक ओर वशी कूक उठी—वही वैरिनी। सुन्दरी सिहर उठी। उसका उल्लास-पूर्ण हृदय वेग से धड़कने लगा। वंशी की मधुर ध्वनि, कुंजों से निकल-निकलकर दिशाओं में गूँजने लगी। देखते-देखते सारी प्रकृति रागमय हो गई। सुन्दरी को ऐसा ज्ञात होने लगा मानो केवल दो वस्तुयें सत्य हैं—वह और वह ध्वनि। शेष सब मिथ्या। फिर वह ध्वनि एक शब्द में परिणत हो गई और वह था उसका नाम। पुकार सुनते ही वह विह्वल होकर उठी, और उस ओर वेग से चलने लगी जिधर से वंशी की आवाज़ आ रही थी। अञ्चल सिर से सरककर ज़मीन पर लथरने लगा। केश बिखरकर हवा में उडने लगे। ज्यों-ज्यों वह कुञ्ज, जहाँ वशी बज रही थी, निकट आता जाता, त्यों-त्यों ध्वनि मन्द होती जाती थी। वह तेज़ी से चली ही जा रही थी कि सहसा उसे एक झटका लगा। वह चौंक पड़ी, आत्म-विस्मृति की दशा भङ्ग हुई। यह ज्ञात होते ही कि उसका सिर खुला हुआ है, केश बिखर कर मुख

पर आ गये हैं, उसका हृदय लाज से भर गया। फिर उसने मुड़ कर देखा कि साड़ी का एक कोर फूलों की एक झाड़ी में उलझा हुआ है। केशों को सँभालती हुई वह झाड़ी के समीप गई और अञ्चल छुड़ा लेने का प्रयत्न करने लगी। इस प्रयत्न का फल यह हुआ कि साड़ी दो-तीन जगह और उलझ गई और उसकी कुसुम-कोमल हथेली काँटों से छिद गई। तब उसने अञ्चल ज़ोर से अपनी ओर खींचा। साड़ी निकल तो आई किन्तु कई स्थान पर फट गई और कुछ रेशमी तार झाड़ी में ही उलझे रह गये।

कुछ सोचकर ग्वालिन फिर वेग से तट की ओर लौट चली। वंशी की आकुल-ध्वनि फिर तीव्र हो गई। सारी प्रकृति फिर आन्दोलित हो उठी।

तट पर पहुँचकर सुन्दरी ने देखा, कलसा उसी तरह जल-क्रीड़ा में व्यस्त है। हाँ, और कुछ-कुछ हिलने भी लगा है। कलसे को शीघ्रता से उठाकर उसने जल से भरा और कमर पर रखकर फिर उसी मार्ग पर वेग से चल पड़ी। वंशी की विकम्पित, आतुर ध्वनि फिर क्रमशः मन्द पड़ने लगी। फिर एकाएक वह एक-दम रुक गई। तब किसी अज्ञात शक्ति ने सुन्दरी के पैरों को भूमि से जकड़ दिया। उसकी आँखें ज़मीन पर तो अवश्य गड़ी थीं, किन्तु वह अपने आस-पास का सारा दृश्य देख रही थी।

सहसा उसे किसी चिर-परिचित स्पर्श का मधुर अनुभव हुआ। ग्वालिन सिहर उठी। उसके सुकोमल शरीर का एक-एक तार हिल उठा। कलसा कर-पाश से मुक्त होकर धड़ाके का शब्द करता हुआ भूमि पर गिरा और लुढ़क-लुढ़ककर इधर-उधर जल फेंकने लगा। सुन्दरी ने एक बार अपने छलिया की ओर तीव्र दृष्टि से देखा, फिर मुख फेर लिया। वंशीवाले ने मुस्कराते हुए अपना बाँयाँ हाथ सुन्दरी के कन्धे पर रख दिया और दाये से उसका मुख अपनी ओर फेरकर ठुड्डी ऊपर उठाई। सुन्दरी ने आँखें बन्द कर लीं, किन्तु सबल प्रयत्न करने पर

भी अपने को न रोक सकी। बन्द पलकों से दो मोती निकले और अरुण कपोलो पर ढुलक पड़े। वंशीवाले के हृदय पर तीव्र आघात हुआ। उसने झुँझलाकर वंशी एक ओर ज़मीन पर पटक दी और अपने पीताम्बर के कोर से सुन्दरी के आँसू पोंछे। सन्धि स्थापित हो गई।

थोडी देर के बाद दोनो एक कदम्ब के वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। साँवरे वंशीवाले ने सुन्दरी की रक्त रञ्जित हथेली अपने हाथ में लेकर पूछा—ये काँटे कहाँ गडे?

सुन्दरी के मुख-मण्डल पर प्रगाढ लालिमा दौड गई। गर्दन नीची करके उँगलियो से पैर का अँगूठा दबाती हुई बोली—नहीं जानती कहाँ!

वंशीवाले ने युवती की ठुड्डी ऊपर उठाकर फिर प्रश्न किया—और साड़ी कहाँ फटी?

ग्वालिन की परेशानी बढ गई। उसने मुस्कराते हुए एक बार वंशीवाले के मुख की ओर देखा, फिर आँखें नीची कर लीं।

तब आनन्द से विह्वल होकर वंशीवाले ने लज्जा की उस सुकुमार प्रतिमा को अपनी ओर खींच लिया।

——

भूल

(१)

कई बडे-बड़े पक्के मकानो से घिरा हुआ, वृद्धा सुखराजी का छोटा-सा, कच्चा, साफ-सुथरा घर आज गर्व से सिर ऊँचा किये खिल-खिलाकर हँस रहा था। आज उसके छोटे-से, चिन्ताग्रस्त मस्तक पर विजय का टीका लगा था। नियति नतमस्तक थी, किन्तु उसके मुखमण्डल पर भेद भरी मुस्कान व्यक्त थी!

भूल

सुखराजी आज फूली न समाती थी। नैराश्य-अन्धकार से भरे हुए उसके हृदय में आशा का जो दीपक एक ज़माने से टिमटिमाता आ रहा था, आज अपनी सम्पूर्ण शक्ति से प्रकाश फेंक रहा था। सुखद अतीत की वह खोई हुई निधि, जिसे खोजते-खोजते वह वृद्धा हो गई थी, उसे पुनः प्राप्त होने को थी।

मध्याह्न का समय था। सुखराजी खाना बनाने की तैयारी कर रही थी। सहसा उसके बन्द द्वार पर किसी ने आवाज़ दी—महराजिन ! महराजिन !

दूसरी आवाज़ सुनते ही वह समझ गई कि आगन्तुक महाशय कोई और नहीं, उसके दयावान पड़ोसी मुंशी ब्रजवासीलाल हैं। इनके इस समय आने का कारण क्या है? किन्तु इस प्रश्न पर विचार किये बिना उसने तुरन्त उत्तर दिया—क्या है बाबूजी!

"एक ज़रूरी काम है, महराजिन ज़रा दरवाज़ा खोलो।"

"अच्छा, खड़े रहिए, बाबूजी खोलती हूँ।"

चावल धोना स्थगित कर, थाली रसोईघर मे रखकर, आँचल से हाथ पोछती हुई, वह दरवाज़े की ओर चली। उसने दरवाज़ा खोला।

"मिठाई खिलाओ, महराजिन!"

खुले दरवाज़े के एक पल्ले से उठङ्ग कर सुखराजी ने मुस्कराते हुए पूछा—क्या बात है, बाबूजी?

"ख़ुशख़बरी लाया हूँ!"

"ख़ुशखबरी!"

"हाँ, ख़ुशख़बरी! इतने दिनों की तुम्हारी तपस्या सफल हो गई।"

सुखराजी का कौतूहल प्रतिक्षण बढ़ता जा रहा था। उनकी ख़बर आई है क्या? किन्तु, यदि बात यह न हुई तो! इसलिए, मुख से कुछ पूछने का उसे साहस न हुआ। किन्तु, अपने आन्दोलित मन का सम्पूर्ण कौतूहल आँखो में भरकर आँखो ही आँखो उसने प्रश्न किया।

"देखो यह चिट्ठी आई है।" कमीज़ की जेब से एक पोस्टकार्ड निकालते हुए, मुस्कराते हुए बूढे मुंशीजी बोले।

"कहाँ से चिट्ठी आई है, बाबूजी?"

"कलकत्ते से, दुबेजी के पास से। चलो, तुम्हे सुना दूँ।"

सुखराजी को ऐसा ज्ञात होने लगा, मानो अमृत की दो धारे उसके कानो से जाकर उसके शरीर के कण-कण मे अकथनीय उल्लास भर रही हो। उसका चेहरा खिल उठा, हृदय वेग से धडकने लगा, मस्तिष्क रस-स्रोत मे तैरने लगा। और, उसके पैर खडे रहने से इन्कार करने लगे। उसने दोनो हाथो से किवाड को कसकर पकड लिया। मुंशीजी ने उसकी इस दशा की ओर ध्यान न दिया, घर मे प्रवेश किया।

सहन में पहुँच कर मुशीजी खड़े हो गये। तब किसी तरह चित्त सँभाल कर, दरवाज़ा बन्द करके, वह भीतर चली। लड़खडाते हुए पैरों को सँभालती हुई सहन मे पहुँच कर दालान की ओर बढ़ती हुई वह बोली—आओ, बाबूजी, बैठो।

दालान मे जाकर मुंशीजी चारपाई पर बैठ गये। सुखराजी चारपाई के समीप ज़मीन पर बैठकर उनके मुख की ओर व्यग्रता से देखने लगी। जेब से चश्मे का केस निकालकर, उसमे से चश्मा लेकर, लगाकर, पोस्टकार्ड चश्मे के सामने ले जाकर, सुखराजी के उत्फुल्ल मुख की ओर देखकर मुंशीजी ने कहा—सुनो, महराजिन पढता हूँ। 'मुंशी ब्रजवासीलाल को रामनाथ दुबे का आशीर्वाद पहुँचे। आगे हाल यह है कि मैं बीस साल के बाद फीजी से आज कलकत्ता आया हूँ। आप लोगो को देखने की बडी लालसा है। दो दिन यहाँ ठहर कर श्री प्रयाग-राज आऊँगा और, तब आपको अपना सारा हाल बताऊँगा। मेरे ऊपर आपकी बडी कृपा थी, शायद आप मुझे भूले न होगे। आशा है, आप और आपके बाल-बच्चे सुखी हैं—रामनाथ दुबे।' बस, इतना ही [illegible] है।

जब तक मुंशीजी पत्र पढते रहे, अतीत के परदे से निकलकर—उसके पति का चिरपरिचित स्वर सुखराजी के कानो मे गूँजता रहा। मन्त्र-मुग्ध-सी बैठी हुई, अपने शरीर की सम्पूर्ण क्रिया-शक्ति कानों मे केन्द्रित किये हुए, वह एक-एक शब्द सुनती रही। जब मुंशीजी ने पढना बन्द कर दिया और वह कर्णमधुर स्वर शून्य मे विलीन हो गया, तो वह सिहर उठी और आन्दोलित हृदय को सँभालती हुई ज़मीन की ओर एकटक ताकती हुई निस्पन्द बैठी रही। उसका रोम-रोम और सुनने और बराबर सुनते रहने के लिए चीत्कार कर रहा था, किन्तु अब तो केवल शून्य ही शून्य था। उस समय उसे ऐसा ज्ञात होने लगा, मानो वह घर वही नहीं है, वह मुंशीजी वही नहीं हैं, वह स्वयं वही नही है; मानो वह कुछ नहीं जानती, किसी को नहीं जानती, स्वयं अपने को भी नहीं, मानो वह सुखराजी नहीं कोई और है, और लोग उसे ज़बरदस्ती सुखराजी कहते हैं।

पोस्टकार्ड जाँघ पर रखकर, चश्मा उतारकर केस में रखते हुए मुंशीजी बोले—महराजिन!

वह चौंक पडी। आत्म-विस्मृति की दशा भङ्ग हुई। किन्तु वह उत्तर देने के लिए यथोचित शक्ति सञ्चित न कर सकी। उसका गला भर आया, उमड कर आँसू आँखो मे आये और झुर्री-भरे कपोलो पर ढुलकने लगे।

चश्मे का केस और पोस्टकार्ड जेब मे रखकर, सुखराजी के चेहरे की ओर देखकर, आश्चर्यपूर्ण स्वर मे मुंशीजी ने कहा—यह क्या करती हो, महराजिन! यह हँसने का वक़्त है न कि रोने का!

सुखराजी के धैर्य का बाँध टूट गया। वह चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगी। उसके मर्मवेधक मनोभाव की छाया मुंशीजी के हृदय पर भी पडी। उनकी आँखें भी डबडबा आईं। वह उठ खडे हुए और बोले—अब मै जाता हूँ, महराजिन, चित्त सँभालो और ख़ुशी मनाओ। किसी वक़्त मेरे यहाँ आना।

उसने बोलने की चेष्टा की किन्तु एक शब्द भी उसके मुख से न निकल सका। मुंशीजी चले गये। तब किसी तरह उठकर उसने दरवाज़ा बन्द किया, लौटकर सामने कोठरी में गई, और ठाकुरजी के सामने ज़मीन पर लोट-लोटकर आँसू बहाने लगी। अपनी जिस कामना की पूर्ति के लिए, दयानिधि ठाकुरजी से इतने वर्षों से नित्य प्रार्थना करती आ रही थी वह आज अनायास पूरी हो गई। इसलिए उसकी कृतज्ञता आँसुओं के रूप मे आँखो से अविरल गति से निकल रही थी।

बड़ी देर के बाद जब उसका चित्त शान्त हुआ, तब आँखें पोछकर वह उठी और एक पडोसी ग्वाले के घर से गोबर ले आई। ताक़ा और दीवारो को अच्छी तरह साफ़ करके उसने सारे घर मे झाड़ू लगाई। फिर वह गोबर लीपने लगी। देखते-देखते सारा घर लिपकर चमकने लगा। तब उसने स्नान किया, और एक साफ़ धुली हुई धोती पहनी। गीली धोती पछाड़कर, निचोडकर वह आँगन पर टाँगने जा रही थी, उसी समय उसके दरवाज़े पर किसी ने आवाज़ लगाई—महराजिन दीदी!

तुरन्त रुक कर सुखराजी ने उत्तर दिया—क्या है, चौधराइन?

"ज़रा दरवज्जा खोलो, दीदी!"

"अच्छा खडी रहो, चौधराइन आती हूँ।"

"अच्छा-अच्छा, खड़ी हूँ, दीदी, जो काम करती हो, करके खोलो।"

धोती आँगन पर फैला कर उसने जाकर दरवाज़ा खोला। एक लम्बी, मोटी गेहुँए रङ्ग की, अधेड स्त्री, एक मैली धोती पहने पान चबाती हुई, मुस्कराती हुई सामने खडी थी। उसने तुरन्त दाँत बाहर निकाल कर कहा—पालागी, महराजिन दीदी!

"अहिवात सदा बना रहे! बहुत दिनो के बाद फेरा किया! आओ।"

घर में प्रवेश करते हुए चौधराइन ने कहा—क्या करूँ, दीदी, गिरिस्ती के काम-काज के मारे छुट्टी ही नहीं मिलती। कहीं जाना-आना

नहीं हो पाता। तुम्हे देखने की आज बडी इच्छा हुई, इसलिए सोचा गिरिस्ती का झंझट तो सदा लगा ही रहेगा, चलूँ महराजिन दीदी से मिल आऊँ।

दरवाज़ा बन्द करते हुए सुखराजी ने कहा—बडा अच्छा किया, चौधराइन! आज मुझे भी तुम्हारा बड़ा ख़्याल आ रहा था।

"आज तो बडी सफाई है, दीदी! ऐसा जान पडता है जैसे आज ही दिवाली मना रही हो!"

"आज का दिन मेरे लिए दिवाली से बढकर है, चौधराइन!"

"क्यो, क्या बात है, दीदी?"

"आज...उनकी चिट्ठी आई है।"

"किसकी, दीदी?"

"मेरे उनकी।"

"दुबेजी की?"

"हाँ।"

"वाह! तब तो बड़ी ख़ुशी की बात है। वाह! मैं कहती थी कि दुबे ऐसे-वैसे आदमी नहीं हैं, वह तुम्हारी सुध ज़रूर लेंगे। मेरी बात ठीक निकली कि नहीं? लाओ, मिठाई खिलाओ, दीदी।"

"खा लेना, चौधराइन। कौन बहुत-सा खाओगी!"

"ही-ही-ही-ही! मैं हँसी कर रही हूँ, दीदी।"

"यह तो मैं भी समझ रही हूँ, चौधराइन।"

वह रात सुखराजी के लिए दीपावली से कम न थी। उसके घर के तमाम ताकों पर दीपक जल रहे थे। बधाई देने के लिए आतुर शुभचिन्तको का ताँता बँधा हुआ था। सुखराजी के पाँव ज़मीन पर न पडते थे। उसके विजयोल्लास की सीमा न थी।

(२)

बीस साल पहले की बात है। सुखराजी उस समय युवती थी, सुन्दरी थी; और उसे इसका ज्ञान और अभिमान था। उसका पति

उसका यथोचित आदर-मान करता था। किन्तु वह क्रोधी था और नशेबाज़ था। वह एक दफ़्तर मे चपरासी था।

दफ़्तर से लौटकर अपने सङ्गी-साथियो के साथ भङ्ग, गाँजा और चरस पीकर तीन-चार घण्टे गपशप किये बिना रामनाथ से रहा न जाता था। बस, उसके इसी ऐब को लेकर पति-पत्नी मे आये दिन झगडे हुआ करते थे। चिन्ताओ ने सुखराजी को कलहप्रिय और हठी बना दिया; और रामनाथ अपनी आदतो से मजबूर था।

एक पहर रात जा चुकी थी। अपने घर के दालान मे ज़मीन पर बिछे हुए टाट के एक बडे टुकडे पर लेटी हुई वह पति की प्रतीक्षा कर रही थी। जम्हाइयाँ पर जम्हाइयाँ आ रही थीं, और उसका क्रोध प्रतिक्षण बढ़ता जाता था। 'अभी तक नहीं आये! आवेंगे तो ऐसी खरी-खोटी सुनाऊँगी कि छट्ठी का दूध याद आ जायगा। ऐसी आवारगी! वाह! घर का कुछ ख़्याल नहीं! मैं कुछ न हुई, मुये साथी सब-कुछ हो गये! मगर अपना ही माल खोटा है तो .....! अपने ही हाथ से आदमी बनता-बिगडता है। वह ऐसे न होते, तो साथी भला क्या कर लेते?' उसे प्यास मालूम हुई। उठकर घड़े से लोटे मे जल लेकर उसने पिया, फिर टाट पर जा लेटी और शून्य दृष्टि से सामने ताक पर जलते हुए दीपक की ओर देखने लगी।

आध घण्टे के बाद जब उसके धैर्य का अन्त हो गया और वह निद्रा मग्न हो गई तो उसका पति वापस आया और दरवाज़ा खट-खटाने लगा।

"दरवाज़ा खोल रे, दरवाज़ा खोल!"

सुखरा जी तुरन्त जाग पड़ी, किन्तु उसने कोई उत्तर न दिया। 'अब आये हैं हज़रत! वहीं पडकर सो क्यो न गये जहाँ अभी तक थे, यहाँ आने की क्या ज़रूरत थी? मुझे टहलुई समझ रक्खा है! पीटने दो ...रवाजा, मेरी बला खोले!"

रामनाथ बराबर दरवाज़ा खटखटाता और आवाज़ देता रहा। किन्तु पानी पी-पीकर मन-ही-मन कोसती हुई वह निस्तब्ध पड़ी रही। जञ्जीर खटखटाना और चिल्लाना उसने बन्द कर दिया। तब—चले गये क्या? नहीं, चले जानेवाले आदमी तो वह नहीं है। मर्द औरत का कुछ ख्याल नहीं रखता। उसे तो बस अपने मज़े से मतलब रहता है। अब उठना चाहिए! हाँ, उठकर देखना चाहिए। उन्हें भूख लगी होगी।

वह उठ और दरवाजे की ओर चली। दरवाज़े के समीप वह पहुँची ही थी कि रामनाथ ने फिर जंजीर खटखटाई और आवाज़ दी—दरवाज़ा खोल!

झुँझला कर उसने दरवाज़ा खोल दिया। उसे देखते ही रामनाथ गर्जा—सो रही थी क्या रे?

बिना उत्तर दिये लौटकर वह भीतर चली। घर मे प्रवेश कर, दरवाज़ा ज़ोर से बन्द कर उसके पीछे चलते-चलते रामनाथ ने कहा—बोलती क्यो नहीं रे? मुँह मे जीभ नहीं है क्या?

"आधी रात को घर लौटते हो और ऊपर से गरजते हो! सरम नहीं आती?"

"हरामज़ादी! ऐडी बैडी बोलेगी तो अभी ठीक कर दूँगा। सरे साम ही तेरे लिए आधी रात हो जाती है?"

"ग्यारह बज गये और इनके लिए अभी सरेसाम ही है! घर कुछ न हुआ और सड़ी सब कुछ हो गये! नशेबाज़ी जो कुछ न करावे थोड़ा है।"

"मै नशा करता हूँ तो तेरे बाप का क्या जाता है, सुअर की बच्ची!"

"बस गाली बकने के सिवा तुम्हे क्या आता है? अपनी भलाई-बुराई न ख़ुद सोचते हो, न दूसरे से सुन सकते हो।"

"चुप रह हरामज़ादी, नहीं तो अभी मारते-मारते सेखी निकाल दूँगा!"

"मारो न, मार भी खा लूँगी। मुझे इसका क्या डर है? इसके सिवा मुझे तुम क्या दे सकते हो? यही करम में लिखा है तो यही सही।"

रामनाथ आपे से बाहर हो गया। बस, सुखराजी के ऊपर थप्पड़ो, घूसो, लातो की वर्षा होने लगी। एक बडे ज़ोर की ठोकर खाकर, चीख़ मारकर, फिसलकर वह बरामदे मे गिरी और अचेत हो गई। तुरन्त ज़मीन पर बैठकर, रामनाथ उसकी पीठ पर घूसे चलाने लगा। किन्तु वह तो निस्पन्द पडी थी, और घूसो की शारीरिक तथा मानसिक चोट पहुँचनेवाली शक्ति का आभास भी उसे नहीं मिल रहा था। दो-तीन मिनट के बाद रामनाथ को सुखराजी की इस दशा का ध्यान हुआ। परन्तु उसे चित्त करके उसने देखा, उसकी आँखे बन्द थीं और नाक से ख़ून की धार बह रही थी। एक ओर दीवार से उठङ्ग कर, बैठ कर वह हाँफने लगा। 'नाक मे चोट आ गई? आ गई होगी! ख़ून बह रहा है? बहने दो। बेहोश हो गई है? हो जाने दो! इसने नाक मे दम कर दिया है। घर क्या है, नरक है। ऐसे घर मे रहना ही पाप है। नहीं, अब यहाँ नहीं रहूँगा। आज ही इसे छोड दूँगा। हाँ, अभी, अभी!'

वह उठ खडा हुआ और लडखडाता हुआ तेज़ी से दरवाज़े की ओर चला। एक मिनट के बाद दरवाज़ा खोलकर वह घर से निकल गया।

सुखराजी को जब होश आया तो उसे अपने सारे शरीर मे विकट पीडा मालूम हुई। थोड़ी देर तक वह कराहती हुई ज्यो की त्यो पडी रही। फिर किसी तरह उठकर दो-तीन क्षण तक बैठी रहकर, उठ कर ताक के समीप जाकर, बुझते हुए दीपक की बत्ती उकसा कर आँगन मे जाकर, लोटे मे डोल से जल लेकर उसने मुँह धोया। मुँह धोकर आँचल से पोछती हुई वह बरामदे मे गई और दीपक लेकर पति को खोजने लगी। घर के कोने-कोने मे पति को व्यर्थ खोजकर, निराश

होकर, दरवाज़ा बन्द कर, बरामदे में लोटकर, दीपक ताक़ पर रखकर, वह खाट पर पड़ रही और विकट मानसिक तथा शारीरिक पीड़ा सहती हुई अशान्त विचारो मे डूब गई। उस समय उसकी चिन्ता का वारापार न था। यह बात न थी कि उसके पति ने उसे आज पहली बार मारा-पीटा हो, किन्तु क्रोध के आवेग मे उसका घर से इस तरह चला जाना नई बात थी। उसकी चिन्ता का मुख्य कारण यही था।

दूसरा दिन आया और चला गया, किन्तु रामनाथ न घर लौटा और न सुखराजी को उसकी कोई सूचना ही मिली। उसके ऊपर दुःख का पहाड टूट पड़ा। दिन पर दिन, महीने पर महीने बीतने लगे। वह निरन्तर पति की प्रतीक्षा करती रही। वह उससे लडती अवश्य थी, किन्तु उसे प्यार करती थी। वह सोचती—मैंने उन्हे कोई अनुचित बात तो नही कही थी, फिर वह आपे से बाहर होकर घर छोड़कर क्यों भाग गये! उनका प्यार-दुलार क्या बनावटी था? नहीं, बनावट तो उनमे तनिक भी न थी। फिर! आदमी का मन सदा एक समान नहीं रहता। कडुई बात बुरी लगती है, कभी कम, कभी ज्यादा। मर्द की आँखे देखकर उसे कुछ कहना-सुनना चाहिए। जब वह प्रसन्न होता है, तो कडुई सुनकर हँसकर टाल देता है; किन्तु जब वह अप्रसन्न होता है तो बिगड़ बैठता है। वह दिन भर के थके-माँदे थे, भूखे थे और नशे मे थे। उस समय उन्हे कुछ न कहना चाहिए था। मुझसे कैसी भारी भूल हुई।

रूप तथा यौवन-सम्पन्न किसी आश्रयहीन स्त्री का रसिको के फन्दों से बच रहना असम्भव-सा है। किन्तु सुखराजी ने यह कर दिखाया। धर्मनिष्ठा ने उसकी सहायता की, चरित्र खोने के प्रलोभन से वह निरन्तर लडती रही। पेट पालने के लिए वह दूसरो के घर खाना बनाती। उसे पति की प्रतीक्षा करते करते बीस वर्ष बीत गये, और वह बूढी हो गई।

(३)

और अब वह आ रहा है—वही जिसने बीस वर्षों तक उसकी सुधि नही ली, किन्तु जिसकी उपासना वह निरन्तर करती आ रही है।

सुखराजी का एक-एक पल कठिनाई से बीत रहा था। उसका व्यग्र मन, वह सुपरिचित कण्ठस्वर, वह पद-ध्वनि सुनने के लिए हर समय कानों के निकट बैठा रहता। नींद उसके लिए दुर्लभ हो गई। खाना उसे अच्छा न लगता। किसी काम मे उसका जी न लगता। जहाँ वह नौकर थी, वहाँ भी कई रोज़ से नहीं जाती।

रात भीग चुकी थी। वायुमण्डल मे विकट निस्तब्धता व्याप्त थी; केवल कुत्ते रह-रह कर भोंकते, उल्लू चीख़ते और उस भयावह निस्तब्धता की विकटता अत्यधिक हो जाती। चारो ओर सघन अन्धकार था; हाँ, सुनील गगन-मण्डल में असख्य तारे टिमटिमा रहे थे, भू-मण्डल पर इधर-उधर दीपक जल रहे थे, और उस व्यापक अन्धकार की निविडता बहुत बढ गई थी। सुखराजी के घर के दालान में भी एक दीपक जल रहा था और वह अपनी खाट पर विचारो में खोई हुई पड़ी थी। 'आज का दिन भी बीत गया और वह नहीं आये। क्यो नहीं आये? आने का इरादा क्या बदल गया? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। जब चिट्ठी लिखी है, तो वह ज़रूर आयँगे। आते ही होंगे, ज़रूर आते होंगे। अब उनकी शकल-सूरत कैसी है! वह भी बूढे हो गये होंगे, ज़रूर बूढ़े हो गये होंगे। मुझसे वह कई साल बड़े हैं। उनके कपडे-लत्ते जैसे-के-तैसे रक्खे हैं। आयेंगे तो पहनने को दूँगी। कपड़े बहुत दिनों से धूप मे नहीं डाले गये। कहीं कीड़े तो नहीं लग गये। चलकर देखना चाहिए।'

उठकर, चारपाई से उतर कर, ताक़ के समीप जाकर, दीपक लेकर, वह बग़ल की कोठरी में गई। कोठरी में एक ओर कुछ घड़े रक्खे हुए थे, कुछ मटके कुछ हाँडियाँ। दूसरी ओर काठ की दो सन्दूकें रक्खी थीं और एक छोटा-सा पुराना ट्रंक था। दीपक एक ताक़ पर रख

कर, एक छोटी हाँडी से चाभियों का गुच्छा निकालकर ट्रंक के समीप जाकर, ज़मीन पर बैठकर, उसने ट्रंक खोला। ट्रंक में कुछ सूखे हुए फूलो के नीचे रामनाथ के धुले हुए कपडे सजे रक्खे थे। फूल बाहर फेककर वह कपडो का निरीक्षण करने लगी। दो धोतियाँ थीं, दो कुर्ते थे, एक मिर्जई थी, एक डुपट्टा, दो दुपल्ली टोपियाँ, दो अँगौछे। 'यह पीला अँगौछा उन्हे कितना पसन्द था। हर दम इसे गले में डाले रहते थे। बड़ी मुश्किल से धोबी को देते थे।' उसके हृदय मे हूक उठी, आँखें सजल हो गई और अँगौछे पर आँसू की बूँदे टपकने लगीं।

कपडों में कीडे न लगे थे। आँखें पोंछकर, कपड़े फिर उसी तरह सजाकर, ट्रङ्क बन्द करके, वह उठ खड़ी हुई। काठ की छोटी सन्दूक़ के समीप जाकर, सामने बैठकर उसने सन्दूक़ खोली। सन्दूक़ में एक ओर सोने के दो और शेष चाँदी के गहने सजाये रक्खे थे और दूसरी ओर एक थैली थी। थैली निकालकर, गोद में रखकर, उसने उसे खोला। थैली में रुपये भरे थे। रुपये निकाल कर वह गिनने लगी। रुपये ठीक थे, ३२१)। रुपये थैली मे रखती हुई वह सोचने लगी, परदेश में न जाने उन्होंने क्या कमाया है, क्या नहीं। ये रुपये उन्हे देकर, उनसे कहूँगी, 'देखो ये मेरी कमाई के रुपये हैं और तुम्हारे हैं। इनसे कोई रोज़गार कर लो, नौकरी अब मत करो।'

थैली सन्दूक़ में रखकर और सन्दूक बन्द करके वह उठ खडी हुई। कुञ्जियों का गुच्छा हाँडी मे रखकर दीपक लेकर वह कोठरी से बाहर निकली और दीपक बरामदे में ताक़ पर रखकर, खाट पर लेटकर, वह करवट बदलने लगी।

दिन चढ आया था। किन्तु रात भर जागने के कारण सुखराजी अभी तक खाट पर अलसाई हुई पडी थी। सहसा घर के बाहर से आवाज़ आई—'महराजिन! महराजिन!'

वह चौंक पडी। आ गये क्या? किन्तु यह आवाज़ तो ब्रजवासी-लाल की है। उसने कहा—'क्या है, बाबूजी!'

"जल्दी दरवाज़ा खोलो, महराजिन।"

"अच्छा आती हूँ, बाबूजी।" क्या बात है? इतने तडके बाबू जी क्यो आये हैं? खाट से उतरकर वह दरवाज़ा खोलने चली।

उसने दरवाज़ा खोला और विविध भावों से आन्दोलित वह सज्ञा-शून्य-सी खडी रह गई। सामने ब्रजवासीलाल थे, और उसका पति, और एक स्त्री।

"महराजिन! देखा, दुबेजी आ गये!"

तब सचेत होकर, झपट कर, वह घर से निकली और पति के पैरो से लिपटकर रोने लगी। रामनाथ की आँखें सजल हो गईं और ब्रजवासीलाल की भी।

"अब चुप रहो, महराजिन, उठो और इन्हे अन्दर लिवा जाओ।"

दो मिनट के बाद चित्त सँभाल कर, पैर छोडकर, वह उठ खडी हुई और भीतर चली। उस स्त्री और रामनाथ को लेकर ब्रजवासी-लाल भी भीतर गये।

भीतर दालान मे पहुँचकर, रामनाथ और मुंशीजी खाट पर बैठ गये और वह स्त्री खाट के समीप ज़मीन पर बैठ गई। जल से भरा हुआ लोटा और परात लेकर सुखराजी आई और पति के पैर धोने लगी। मुंशीजी ने मुस्कराते हुए कहा—"ये तुम्हारी सौत हैं, महराजिन! सौते आपस मे लडे-झगडे बग़ैर नही रहतीं। लेकिन मै तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ, और मुझे उमीद है कि तुम हँसी-ख़ुशी से निबाह करोगी।"

सुखराजी पर वज्रपात हुआ। उसका सन्देह सत्य निकला। लोटा उसके हाथ से छूटते-छूटते बचा। लोटा कसकर पकडे हुए वह दो तीन क्षण तक खडी रही, फिर जी कडा करके पैर धोने लगी। मुंशीजी उठ खडे हुए और बोले—"अच्छा, दुबेजी, अब मै जाता हूँ। शाम को मेरे घर आना।"

"अच्छा बाबू जी, ज़रूर आऊँगा।"

मुंशीजी चले गये तब रामनाथ ने धीरे से कहा—"तुम अच्छी तो रही ?"

सुखराजी ने बोलने की कोशिश की, किन्तु कुछ न कह सकी। इसलिए, सिर हिलाकर उसने 'हाँ' कर दिया और जल से भरी परात लेकर वह आँगन में चली गई।

उसका दिल टूट गया। जिसे देवता समझकर वह इतने दिनो से पूजती आ रही थी, वह पत्थर निकला। घर मे पति का स्वागत करने के लिए वह इतने वर्षों से लालायित थी; किन्तु आज जब वह आ गया तो घर उसे काट खाने लगा। कितनी विचित्र थी उसकी परिस्थिति !

मध्याह्न का समय था। पति और सौत को खिला-पिलाकर, दूसरी बार स्नान करके, वह पूजा कर रही थी। ठाकुरजी को जल, पुष्प तथा नैवेद्य चढाकर उसने आरती की। फिर हाथ जोडकर आँखें बन्द करके वह ध्यानमग्न हो गई। तब उसकी बन्द पलको से आँसू की दो धारें निकली और मुर्झाये कपोलो पर बहने लगीं। सीधी बैठी रहना कठिन हो गया। उसने ज़मीन पर मस्तक टेक दिया। और बड़ी देर तक उसी तरह आँसू बहाती बैठी हुई वह आराधना मे तल्लीन रही। फिर आँखे पोछकर वह उठ खडी हुई और कोठरी से बाहर निकली।

उधर उस कोठरी में उसकी सौत के साथ उसका पति आराम कर रहा था। उस कोठरी के बन्द दरवाज़े की ओर उत्कट ईर्ष्या की दृष्टि से देखती हुई वह थोडी देर तक खडी रही। उसकी सौत जवान थी, हट्टी-कट्टी थी और देखने में बुरी न थी; और वह बूढी हो गई थी। सौत के सुख मे बाधा डालने का उसे कदाचित् कोई अधिकार न था। हाँ, उसे कोई अधिकार न था। वह आगे बढी, सहन में पहुँचकर रुकी और सजल नेत्रो से इधर-उधर देखने लगी। फिर, अपनी उत्तेजित आत्मा की समग्र शक्ति लगाकर, अगाध ममत्व का बन्धन तोड़कर, वह घर से निकल पड़ी।

महामाया काली के मन्दिर के समीप बरगद का एक विशालकाय वृक्ष था और उस वृद्ध वृक्ष के नीचे एक पक्का कुँआ था। उसका जल मीठा था, और मुहल्ले के कितने ही लोग उस पर पानी भरने आते थे। उस समय वहाँ मध्याह्न का सुखद आलस्य छाया हुआ था। उधर मन्दिर के चबूतरे पर चर्वन करते हुए दो मजदूरों के अतिरिक्त वहाँ कोई न था। कुएँ के समीप पहुँचकर सुखराजी खड़ी हो गई। फिर वह सीढियों पर चढ़ने लगी। एक मज़दूर ने चिल्लाकर पूछा—"जल चाहिए क्या, माई?"

उसने उत्तर न दिया। वह जगत पर पहुँच गई और कुएँ के मुख के समीप पहुँचकर, रुक कर, नीचे झाँकने लगी।

"हाँ—हाँ—हाँ! क्या करती है, माई?"

किन्तु आँखें बन्द करके वह कुएँ मे कूद पडी। शोर करते हुए, दोनों मज़दूर दौडे। देखते-देखते भीड़ जमा हो गई। सुखराजी को निकालने के उपाय किये जाने लगे।

घण्टे भर के बाद सुखराजी का निर्जीव शरीर कुएँ से बाहर निकाला गया। उसके जान-पहचान के लोग शोक प्रकट करने लगे। मुंशी ब्रजवासीलाल को ख़बर मिली। रामनाथ को साथ लेकर वह दौड़े आये।

भीड चीरकर रामनाथ झपटा और शव से लिपटकर बिलख-बिलख कर रोने लगा। मुंशीजी की आँखों से भी आँसू टपकने लगे।

बेला

(१)

बेला को कुमार्ग पर ले जाने का उत्तरदायित्व उसकी माता बिन्दो पर था। बिन्दो ने बेला को इसी लिए पाल-पोसकर बड़ा किया था कि

वह बाज़ार में अपने रूप और यौवन की जिन्स लेकर बैठे। क्या बिन्दो का हृदय मातृ-स्नेह से अपरिचित था? नहीं, बिन्दो पर यह आक्षेप नही किया जा सकता। यथार्थ तो यह है कि मातृ-स्नेह के अतिरिक्त बिन्दो कोई और स्नेह जानती ही न थी। वह बेला पर प्राण देती थी, उसके पीछे छाया की तरह लगी रहती थी, उसके साधारण से साधारण शारीरिक कष्ट से भी घबरा जाती थी। फिर ऐसी स्नेह-मयी माता अपनी एक-मात्र पुत्री को उस मार्ग पर क्यो ले गई जिसके अन्तस्थान पर शारीरिक और नैतिक अधःपतन के अतिरिक्त कुछ नहीं प्राप्त हो सकता? संसार को आश्चर्य था, किन्तु बिन्दो को इसमे आश्चर्य की कोई बात नही दिखाई देती थी। उसके जीवन का ध्येय था ससार मे सुख से जीवित रहना, साधनो के औचित्य-अनौचित्य से उसे कोई प्रयोजन न था। फिर जिस मार्ग पर चलते-चलते उसके जीवन का अधिकाश समय बीत गया और सन्ध्याकाल आ पहुँचा, उसी पर बेटी को ले जाना भी स्वाभाविक ही था। जिन भावो की प्रेरणा से बिन्दो ने बेला का जीवन क्रम निश्चित किया उनमे प्रतीकार की इच्छा भी अज्ञात रूप से विद्यमान थी। नहीं, यही इच्छा उस प्रेरणा का मूल स्तम्भ थी। उसका जीवन पुरुषो-द्वारा किये गये अत्याचारो का एक विस्तृत इतिहास था। अतएव उसका भाग्य-चक्र इन्हीं अत्याचारो का बदला लेने मे उसके जीवन के शेष दिन लगाने लगा। पाषाण-हृदय पुरुषो के सहवास से वह भी पाषाण-हृदय हो गई थी। फिर पुरुषो के प्रति उसके हृदय मे सहानुभूति अङ्कुरित होती तो कैसे? प्रतीकार के निमित्त बेला उपयुक्त साधन थी। फिर भाग्य-चक्र उससे क्यो न लाभ उठाता?

ऐसी माता की देख-रेख मे पलकर बेला बडी हुई और बडी होकर मा से भी बढ गई। पुरुषो को पराजित करने के लिए यों तो स्त्री का यौवन ही बहुत है, फिर यदि उसमे सौन्दर्य भी हुआ तो उसकी शक्ति अजेय हो जाती है। बाल्यकाल ही से बेला को अपनी अजेय शक्ति की छाया दिखाई देने लगी थी। वह घण्टो शीशे के सामने चित्रलिखित-

सी बैठी रह जाती। इसमें उसे एक प्रकार का अज्ञात कौतूहलमय आनन्द प्राप्त होता था। किन्तु अपनी शक्ति का वास्तविक ज्ञान उसे उस समय हुआ जब उसका यौवन-पुष्प पँखडियाँ खोलकर रसिक भौंरो को निमन्त्रण देने लगा। धीरे-धीरे पतङ्ग-समूह विस्तीर्ण होने लगा और साथ ही दीपक की ज्योतिछटा भी बढने लगी! मायावती नवयुवती नित्य नये रूप बदलकर कामातुर प्रेमियो के साथ छल-क्रीडा करने लगी। बेला गाती, नाचती, शराब पीती और नशे की दशा मे प्रेम के स्वाँग भरती। इस तरह बढकर नवयुवती प्रौढ युवती हुई। बेला को अपने लज्जाजनक जीवन के लिए लेश-मात्र भी लज्जा न थी। वह इतनी गिर गई थी! हाँ, उसे तो ज्ञात भी न था कि संसार मे उसके जीवन से कोई श्रेष्ठ जीवन भी हो सकता है। फिर उसे लज्जा कैसे आती?

डूबते हुए सूर्य की मन्द किरणे वृक्षो की चोटियो पर हरी-हरी पत्तियों से हिल-मिलकर नृत्य कर रही थीं। बेला अपने नये घर की साफ-सुथरी वाटिका मे, प्याज़ी रङ्ग की रेशमी साड़ी धारण किये, लाल मख़मली स्लीपर पहने, सिर खोले, पान चबाती हुई धीरे-धीरे टहल रही थी। उसके मुखमण्डल से सन्तोष की रेखायें प्रस्फुटित हो रही थीं। बेला इन दिनो जिस व्यक्ति की प्रेम-पात्री थी वह एक धनाढ्य सेठ था और वह उसके शृङ्गार और सुख के लिए धन पानी की तरह बहाता था। यह बात अवश्य थी कि बेला को सेठजी से मिलने की वह उत्कण्ठा नहीं रहती थी जो अन्य सहृदय स्त्रियो को अपने प्रेमियो से मिलने के लिए रहती है, न उनसे मिलने मे उसे विशेष आनन्द ही प्राप्त होता था। कदाचित् यही कारण था कि उसके चेहरे की ओर देखने से कभी-कभी ऐसा ज्ञात होता था मानो उसकी हीन आत्मा, पिजड़े मे बन्द पक्षी की भाँति, आँखो मे बैठी हुई असीम नैराश्य और विवशता से किसी को खोज रही हो!

बेला की इधर-उधर फिरती हुई आँखें दो बडी-बड़ी आँखो पर जम गईं। विचित्र आँखें थी, उनमे विचित्र आकर्षण-शक्ति थी। ऐसी

आँखें बेला ने पहले कभी न देखी थीं। वे आँखें एक पुरुष की थीं, जो सडक की पटरी पर चलते-चलते एकाएक रुककर उसकी ओर देखने लगा था। वह लम्बे क़द का, सुगठित शरीरवाला जवान था, और उसका रङ्ग गेहुँआ था। उसके शरीर पर रेशमी कुरता था, रेशमी किनारे की बारीक धोती, पैरों में हलके पञ्जाबी जूते। उस जवान के चेहरे से विचित्र शान्ति टपक रही थी। चित्रलिखित-सी खडी हुई बेला उस व्यक्ति की ओर एकटक देखने लगी। जवान के होठो पर मुस्कान की हलकी सी रेखा व्यक्त हुई, किन्तु दूसरे ही क्षण गाम्भीर्य में परिणत हो गई। बेला को उस समय होश आया जब वह धीरे-धीरे आगे बढा और आँखो से ओझल हो गया। तब वह उस ओर चली गई जहाँ भाँति-भाँति के फूलों और पत्तियो को लोहे के तारों पर चढाकर एक कुञ्ज-सा बना दिया गया था। कुञ्ज मे दो-तीन बेंचे रक्खी हुई थीं। बेला एक बेंच पर लद-से बैठ गई।

उस व्यक्ति की स्मृति-मूर्ति बेला की आँखो में फिर रही थी। उसमें ऐसी क्या बात थी जिसने बेला को इतना आकृष्ट किया? ऐसे पुरुष उसने बहुत देखे थे, ऐसे हाथ, ऐसे पैर, ऐसी नाक, ऐसे कान, ऐसे होठ। कदाचित् ऐसी आँखें भी अक्सर देखी थी। फिर उन आँखों ने उसे इतना क्यो आकृष्ट किया? उन आँखो का भाव भी तो वह नहीं समझ सकी थी। उन आँखों को देखने से एक क्षण तो उसे ऐसा जान पडा था, मानो वे आनन्दविह्वल होकर उसे पुकार रही हो, किन्तु दूसरे ही क्षण उसे ऐसा ज्ञात हुआ था, मानो सन्देह मे पड जाने के कारण वे कौतूहल और आश्चर्य से उसे पहचानने का प्रयत्न कर रही हों। फिर वे मुस्कराईं क्यों थीं? क्या वे उसे पहचान गईं थीं? बेला को तो सन्देह नहीं हुआ था। उसे तो उस व्यक्ति को देखकर यही जान पडा था कि अनन्त समय की किसी शताब्दी में कहीं उस व्यक्ति से भेंट हुई थी। उससे कभी फिर भेंट होगी कि नहीं? कभी वह मिला तो मैं उससे ज़रूर बातें करूँगी। क्या वह कल फिर आवेगा?

ऐसे ही उधेड-बुन में बेला लगभग दस मिनट बैठी रही। फिर सहसा बॅगले मे एक मोटर के प्रवेश करने का शब्द हुआ। बेला समझ गई, मोटर में सेठजी आये हैं, किन्तु अपने स्थान से नहीं हिली, यद्यपि उसके व्यापार की नीति का तक़ाज़ा था कि वह तुरन्त उठकर उनका स्वागत करने जाय। पाँच मिनट मे, अपने स्थूल शरीर को एक मोटी पहाडी छड़ी से सहारा देते हुए सेठजी ने स्वयं कुञ्ज मे प्रवेश किया।

"आइए" बेला मुस्कराने की कोशिश करती हुई बोली। किन्तु उसके इस प्रयास मे मनोभावो पर परदा डालने की इस समय वह शक्ति न थी जो अक्सर चतुर से चतुर पुरुषो को भी धोखे मे डाल देती थी। नहीं, वह प्रयास अत्यन्त करुण था, उसमे एक प्रकार की वेदना थी और विवशता भी। सेठजी का दिल भर आया। वे जाकर बेला के समीप बेंच पर बैठ गये और चिन्तित स्वर से पूछा—कैसा जी है?

"चक्कर आ रहे हैं, जी घबरा रहा है।"

सेठजी ने जेब से सुगन्ध मे बसा हुआ रेशमी रूमाल निकाला और बेला के मुख पर हवा करते हुए बोले—क्या बात हो गई? अभी सवेरे तक तो तुम भली-चङ्गी थी। कब से चक्कर आ रहे हैं?

"दो घण्टे से।"

"तो तुमने मुझे फ़ौरन इत्तला क्यो नहीं दी?"

"मैंने सोचा, अभी बन्द हो जायगा, आपको क्यो तकलीफ दूॅ।"

"इसमे तकलीफ की क्या बात थी? कहला भेजना था। बेला, तुममे बस एक यही ऐब है कि तुम मुझे ग़ैर समझती हो।"

"आपका ख़याल ग़लत है।" बेला ने ज़ोर देते हुए कहा।

"ग़लत नहीं, बिलकुल सही है। अगर तुम मुझे गैर न समझतीं तो इत्तला न देतीं? तकलीफ का ख़याल तो ग़ैरो ही के साथ किया जाता है। ख़ैर, यहाँ क्यो बैठी हो? चलो चलें। आज गर्मी भी बडी सख़्त है। शायद इसी वजह से चक्कर आने लगे हो। कोई दवा खाई कि नहीं?"

"नहीं, दवा तो कोई नहीं खाई।"

"क्यो ? डाक्टर गुप्ता से कहलाकर दवा मँगा लेनी थी। अच्छा, उठो, चलो, डाक्टर साहब को बुलवा ही लें। देखकर देंगे तो ज़्यादा अच्छा होगा।"

उठने का प्रयत्न करते हुए बेला ने कहा—बुलाने की क्या ज़रूरत है ! कहला भेजने से काम चल जायगा।

"बेला !" सेठजी इस तरह बोले, मानो कोई अनुचित बात सुनी हो। "इस वक्त मैं तुम्हारी कोई बात न मानूँगा। तुम्हारे ऊपर मुझे बडा ग़ुस्सा आ रहा है।"

बेला उठकर खडी तो हुई, किन्तु फिर लडखडाकर बैठ गई। सेठजी के हाथो के तोते उड़ गये। वे झपटकर, कुञ्ज के बाहर निकले और ज़ोर-ज़ोर से पुकारने लगे—कोई है ? कोई है ? सब कहाँ भाग गये, मर गये क्या !

बाग़ के एक कोने मे माली घर जाने की तैयारी मे हाथ पैर धो रहा था। सेठजी की आवाज़ सुनते ही भागा हुआ आया और धोती में हाथ पोछते हुए पूछा—क्या है सरकार ?

"जाकर बाईजी को यहाँ फौरन भेजो, कह देना कि गुलाबजल भी लेती आयें। और सुनो, रामदीन को भी भेज देना।"

"क्या हुआ, सरकार !"

"मैं तुमसे जो कह रहा हूँ पहले उसे करो, बातें पीछे करना।"

कौतूहल के भाव को दबाने का प्रयत्न करता और सेठजी के ऊपर मन ही मन बिगडता हुआ माली शीघ्रता से बँगले की ओर चला गया।

पाँच मिनट मे बिन्दो, एक दासी जो गुलाबजल से भरा हुआ लोटा और पङ्खा लिये हुए थी, माली और रामदीन कुञ्ज मे उपस्थित हुए। बेला बेंच पर अस्त-व्यस्त पडी थी; उसकी आँखें बन्द थीं, साँस जल्दी-जल्दी चल रही थी, सीना जल्दी-जल्दी हिल रहा था। सेठजी बेंच के सहारे झुके हुए रूमाल से बेला के मुख पर हवा कर रहे थे। बिन्दो झपटकर समीप गई और बेला का कन्धा पकडकर हिलाने लगी।

"बेला ! बेला ! इसे क्या हो गया, भैया ?"

"जब मैं यहाँ आया तब यह यहाँ उदास-सी बैठी हुई थी। पूछने पर बतलाया कि चक्कर आ रहे हैं। शायद इसी वजह से गश आ गया। आपने कोई दवा क्यो नही मँगा ली ?"

"मुझे बताती तब तो," बिन्दो ने बेला का मुँह धोते हुए कहा—"इसमे यह बडा अवगुन है कि चाहे मर ही क्यो न रही हो, किसी से अपनी तबीयत का हाल न कहेगी। फिर कोई अपना हाल न बतावे तो कोई कैसे जाने ?"

सेठजी ने मुडकर देखा शोफर रामदीन द्वार पर चिन्तित भाव से खडा है। उसे संकेत से पास बुलाकर सेठजी ने आज्ञा दी—देखो, मोटर लेकर डाक्टर गुप्ता के पास जाओ और कहो कि आपको फौरन बुलाया है। और सुनो, उन्हे अपने साथ ही लाना।

रामदीन चला गया।

(२)

एक घण्टे के बाद जब रामदीन गुप्ता को लेकर लौटा, सेठजी सायबान मे व्यग्रता से टहल रहे थे। उनके उदास चेहरे पर शान्ति की एक हलकी-सी रेखा झिलमिलाई और अदृश्य हो गई। सीढियो पर उतरते हुए उन्होने डाक्टर साहब को सलाम किया। सलाम का जवाब देकर डाक्टर साहब ने बैग सँभाला, मोटर से उतरे और सेठजी के समीप जाकर पूछा—क्या मामला है, जनाब ?

"आज दोपहर से बेला को चक्कर आ रहे हैं।"

"क्या बात हो गई ?"

"मेरी समझ मे तो कुछ नहीं आता।"

"और आपकी क्या हालत है, जनाब ? मैने आपके लिए जो दवा भेजी थी उसे इस्तेमाल करते हैं कि नहीं ?"

"खाता तो हूँ। फायदा भी दिखलाई देता है। काफी दुबला गया हूँ ?"

अपने को न रोक सकने के कारण डाक्टर गुप्ता मुस्कराने लगे। उस मुस्कराहट में विनोद था, अवहेलना थी, कौशल-गर्व था। चलते-चलते रुककर सेठजी ने मुँह खोले हुए प्रश्न-सूचक दृष्टि से उनके चेहरे की ओर देखा। तुरन्त गम्भीर होकर डाक्टर ने कहा—माफ कीजिएगा, जनाब, मुझे एक दूसरी बात का ख़याल आ गया था। हाँ, कुछ फायदा तो ज़रूर दिखाई देता है। कसरत करते है कि नहीं? रोज़ किया कीजिए। और देखिए, सुबह के वक़्त पार्क मे जाकर दौड भी लगाया कीजिए। इससे भी बहुत फायदा होगा।

सेठजी का सन्देह शान्त हो गया। उत्सुकता से बोले—सच कहिएगा डाक्टर साहब! अच्छा, दौडा भी करूँगा।

इतने मे वह कमरा आ गया जहाँ पलँग के सफ़ेद नर्म बिस्तरे पर भार रखते ही एक-एक बालिश्त धँस जानेवाले तकियो के सहारे आँखें बन्द किये हुई बेला लेटी हुई थी। कमरे मे विद्युत्-प्रकाश फैला हुआ था। एक छोटी-सी मेज़ पर रक्खा हुआ बिजली का पङ्खा हवा कर रहा था। पलँग के समीप एक गद्दीदार कुरसी पर बिन्दो चिन्तित भाव से बैठी हुई थी। दो दासियाँ बेला के पैर दाब रही थीं। डाक्टर साहब और सेठजी के प्रवेश करते ही बिन्दो उठकर खडी हो गई, दासियाँ पलँग से दूर हट गईं। बेला ने अलसाई हुई नशीली आँखे खोलीं और उठकर बैठने लगी।

कुरसी खींचकर बैठते हुए डाक्टर ने कहा—आप लेटी रहिए। कैसी तबीयत है?

बैठकर और घुटनों को हाथों से बाँधकर बेला क्षीण स्वर मे बोली—सिर मे दर्द है, जी घबरा रहा है और रह-रहकर चक्कर-सा आने लगता है।

डाक्टर (जेब से हृदय की गति देखने का यन्त्र निकालते हुए)—आप लेट जाइए, बैठे रहने से तकलीफ़ बढ़ जायगी।

बिन्दो ने आग्रह किया—लेट जा, बेटी। इसमे शर्म की क्या बात है? अपनी ही ज़िद अच्छी नहीं होती।

बेला विवशता का भाव व्यक्त करती हुई तकियो के सहारे उँढक गई।

"चक्कर आना कब से शुरू हुआ?"

"क़रीब चार बजे से। सिर मे दर्द तो दोपहर ही से था।"

बेला की कलाई पर हाथ रखकर डाक्टर साहब ने नब्ज देखी; फिर हृदय-परीक्षक-यन्त्र की खूँटियाँ कान मे लगाते हुए पूछा—क़ब्ज़ की शिकायत तो नहीं है?

"नहीं, पेट तो साफ़ है।"

हृदय की गति देखकर डाक्टर साहब कुरसी पर बैठ गये और बेला के मुख की ओर ध्यान से देखने लगे। बेला के कपोल जलने लगे। उसे ऐसा ज्ञात होने लगा मानो डाक्टर की तीव्र दृष्टि उसके अन्त-र्देश मे घुसकर वहाँ का विकट द्वन्द्व देख रही हो। बेला ने आँखें बन्द कर लीं।

नुसख़ा लिखकर जब डाक्टर साहब जाने लगे तब बिन्दो ने पूछा—इसे क्या हुआ है, डाक्टर साहब?

"ऐसे ही गर्मी की वजह से चक्कर आने लगा है, घबराने की कोई बात नहीं है। मैंने दवा लिख दी है, बनवाकर दीजिए, अच्छी हो जायँगी।"

कमरे से निकलकर, फीस लेकर, सेठजी के सलाम का उत्तर देकर डाक्टर गुप्ता मोटर मे सवार हुए और अपने औषधालय की ओर रवाना हो गये।

ग्यारह बजे जब सेठजी घर गये, बिन्दो और दासियाँ सोने के लिए चली गई तब बेला ने शान्ति की साँस ली। कमरे मे विद्युत्-प्रकाश फैला हुआ था। 'भर-भर' करता हुआ बिजली का पङ्खा जूड़े से खोल-खोलकर बेला के चमकते हुए केशो को इधर-उधर बिखेरने मे लगा हुआ था। हथेली पर ठुड्डी टेके सीने से तकिया दबाये हुए बेला फर्श की

ओर ताकती हुई पडी थी। थोडी देर के बाद वह सहसा उठकर खडी हो गई, अँगडाई ली, फिर उस मेज के समीप गई जिस पर दवाई की शीशियाँ, जल से भरी हुई शीशे की सुराही और गिलास रक्खे हुए थे। एक शीशी उठाकर बेला ने 'लेबेल' पर दृष्टि जमा दी। बेला को हिन्दी और उर्दू की शिक्षा तो यथेष्ट दी गई थी, किन्तु उसका अँगरेज़ी भाषा का अध्ययन वर्णमाला की परिमित सीमा से आगे न बढ सका था। इसलिए जब 'लेबेल' की जटिल पक्तियो पर बार-बार दृष्टि दौडाने से और एक-एक अक्षर जोड-जोडकर पढने से सफलता न हुई तब उसने शीशी मेज़ पर रख दी और उस आरामकुरसी पर जा बैठी जो एक खुली हुई खिडकी के समीप पडी हुई थी।

आज बेला को कैसा स्वाँग करना पडा! यो तो वह नित्य नया स्वाँग करती थी, लेकिन आज का-सा 'पार्ट' उसने कभी न खेला था। आज तो बीमार बनकर वह सचमुच बीमार हो गई थी। क्या वह सचमुच बीमार-सी नहीं दिखाई देती? बेला उठकर दीवार पर लगे हुए बड़े शीशे के सामने खड़ी हो गई। उसके लावण्यमय मुखमण्डल पर मलिनता छाई हुई थी, जैसे शीतकाल मे अरुणोदय के समय उद्यान की कुसुम-राशि पर कुहरे की चादर पड़ जाती है! उसे कौन बीमार न कहेगा! बेला ने मुस्करा दिया। कितनी करुण मुस्कान थी, उसे कितनी पीड़ा थी! और दिन तो सफल अभिनय के बाद उसे अपनी कला-कुशलता पर गर्व होता था, फिर आज उसके हृदय मे ग्लानि क्यो थी, असन्तोष क्यो था? हाँ, आज उसने बीमारी का स्वाँग क्यो भरा? लेकिन अगर बीमार न बनती तो आज सेठजी से कैसे बच पाती! और आज सेठजी से सहवास के विचार से ही उसका मन घृणा से भर गया था। क्या सचमुच उसने बीमारी का स्वाँग भरा था? क्या सेठजी के आने के पहले ही उसका हृदय उस असाध्य रोग मे ग्रसित नहीं हो गया था जिसे दूर करने की ससार के किसी डाक्टर के पास ओषधि नहीं!

आरामकुरसी के समीप जाकर बेला लद-से बैठ गई और घुटनो पर कुहनियो को रखकर हथेलियो पर ठुड्डी टेककर खिडकी के उस पार एकटक देखने लगी। वह उस अपरिचित की बात सोचने लगी जिसका सा निकट सम्बन्धी आज उसे कोई नहीं दिखाई देता था, जिसने आज उसे इतना आन्दोलित कर दिया था।

(३)

दूसरे दिन तीसरे पहर जब बेला ने फिर वाटिका मे प्रवेश किया तब वह कल से अधिक सजी हुई दिखाई देती थी। किन्तु कल उसके रूप में जो एक प्रकार की निर्लज्जता और असावधानी व्यक्त थी, आज न थी। आज उसमें वह स्वाभाविक लाज, वह विचित्र सावधानी थी, जो सच्चरित्र रमणियो मे ही पाई जाती है। बेला टहलती हुई उस ओर गई जहाँ माली फूल के पौधों की सूखी हुई पत्तियाँ छाँट रहा था। उसने पुकारा—"माली!"

"क्या है, बाईजी?"

"देखो, मेरे लिए एक गुलदस्ता बना दो।"

"बहुत अच्छा, सरकार।"

"छोटा हो, लेकिन जितना अच्छा और जितनी जल्दी बना सको बनाओ।"

"अभी लीजिए, बाईजी। इतना बढ़िया बनाऊँगा कि हजूर का जी खुश हो जाय।"

"अच्छा होगा तो इनाम दूँगी।"

"हजूर ही का दिया खाता हूँ कि किसी दूसरे का?"

माली इधर-उधर से फूल-पत्तियाँ तोड-तोडकर इकट्ठा करने लगा। बेला अपने विचारो मे व्यस्त होकर टहलने लगी।

थोडी देर में माली भाँति भाँति के सुगन्धित फूलो और पत्तियों से सजा हुआ एक गुलदस्ता लेकर बेला के पास आया और उसकी ओर

बढ़ाता हुआ बोला—लीजिए, सरकार! जल्दी मे बहुत अच्छा तो नहीं बना सका, लेकिन ख़राब भी नहीं है।

"ख़ैर, कुछ हर्ज नहीं।" गुलदस्ता लेकर बेला कई क्षण उसे उलट-पलट कर देखती रही, फिर टेंट से एक रुपया निकालकर उसने माली के हाथ पर रख दिया।

सलाम करके बेला को दीर्घजीवी होने की दुआ देता हुआ माली अपने काम में लग गया।

गुलदस्ता लिये हुए बेला शीघ्रता से घर के भीतर चली गई। थोडी देर के बाद वह फिर गुलदस्ता लिये हुए वाटिका मे आई और व्यग्रता से इधर-उधर टहलने लगी। वह रह-रहकर सडक की ओर देखती और मन मे कहती जाती थी कि "वे आज फिर इधर आयेंगे कि नही? आ जाते तो बडा अच्छा होता! उन्हे इस समय फ़ुर्सत है कि नहीं, कौन जाने। न जाने वे कौन हैं। वे कोई भी हो, आज आ जाते तो एक बार उन्हे फिर देख लेती।"

इसी तरह अपने विचारो में मग्न बेला बडी देर तक टहलती रही। सहसा उसकी दृष्टि वाटिका की चहारदीवारी के उस पार सड़क पर गई। वही व्यक्ति खडा हुआ उसकी ओर देख रहा था। मन्त्रमुग्ध-सी खड़ी होकर बेला उसकी ओर एकटक देखने लगी। वह मुस्कराया। बेला ने भी मुस्करा दिया। उस समय सड़क सूनी थी, इधर-उधर देखकर बेला ने साहस करके गुलदस्ता उस व्यक्ति की ओर फेंक दिया। गुलदस्ता उस व्यक्ति के पैरों के पास आकर गिरा। वह झुका, गुलदस्ता उठा लिया, फिर एक बार बेला की ओर देखकर, मुस्कराकर, आगे बढ़ा।

शीघ्रता से सडक पार करके उसने एक उद्यान मे प्रवेश किया। वृक्षों के झुर्मुट से होता हुआ वह एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचा जहाँ एक मौलसरी के पेड़ के नीचे हरी-हरी घास पर एक 'बेंच' पड़ी हुई थी। वहाँ उसके अतिरिक्त और कोई न था। एक दीर्घ निःश्वास छोडकर वह बेंच पर बैठ गया और गुलदस्ते को दोनो हाथों में पकड़कर ध्यान से

देखने लगा। दो-तीन गुलाब के फूलों के बीच में एक नीले रङ्ग का काग़ज़ छिपा हुआ दिखाई दिया। काग़ज निकालकर गुलदस्ता एक ओर बेंच पर रखकर उस व्यक्ति ने काग़ज़ खोलकर देखा। एक पत्र था। एक विचित्र प्रकार के सुगन्ध की लपटें पत्र से निकल-निकलकर उसकी ओर दौड़ने लगीं। पत्र में लिखा था—

आप कौन हैं!—नहीं जानती। कल आपको पहली ही बार देखा था, लेकिन देखते ही ऐसा जान पडा मानो आपको जानती हूँ—सदा से जानती हूँ। आपसे मिलने को, बाते करने को जी बहुत चाहता है। न जाने आपके दिल में मेरा ख़याल है कि नहीं। ख़ैर, क्या आप मेरी ख़ातिर आज रात को यहाँ आ सकेंगे? बारह बजे के बाद फाटक से दाखिल होकर बाग़ में आ जाइएगा। मैं आपका वही इन्तज़ार करती रहूँगी। आशा है, आप मेरा दिल न तोड़ेंगे।

आपकी
बेला

"बेला! कितना सुन्दर नाम है! जितना सुन्दर उसका नाम है, वैसी ही वह सुन्दरी भी है। बेला कौन है! क्या यह वही परी है जो नित्य मेघमालाओ से, चन्द्रलोक से उड उडकर मेरे कल्पना-साम्राज्य मे अवतीर्ण होतो है, जिसकी प्रतिमूर्ति मेरी अनेक कविताओं मे विद्यमान है। बेला उससे मिलती जुलती हुई तो अवश्य है। अगर बात यह न होती तो मेरा दिल उसकी तरफ इस तरह क्यो खिंचा जाता! तो क्या जीवन के सारे स्वप्न, सारी आशाये आज फलीभूत हो जायँगी! कौन कह सकता है? उससे मिलने जाना चाहिए कि नहीं! कहीं वह किसी की विवाहिता स्त्री हुई तो? विवाहिता-सी तो नहीं जान पडती। चाहे जो हो, जाना तो ज़रूर चाहिए। नहीं, बिना उसका पूरा हाल जाने जाना तो उचित नही प्रतीत होता।"

पत्र जेब मे रखकर, गुलदस्ता हाथ मे लिये हुए, इसी तरह सोचता विचारता वह युवक उद्यान से बाहर निकला। कई लम्बी सड़को और

टेढी-मेढ़ी गलियो मे होता हुआ अन्त मे वह एक पतली गली मे घुसा और थोडी दूर चलकर एक साधारण श्रेणी के मकान का दरवाज़ा खटखटाया। एक क्षण मे एक वृद्धा ने आकर दरवाज़ा खोल दिया। युवक ने घर में प्रवेश किया।

"आ गये, किसन भैया? आज कहाँ देर लगा दी, बेटा? आज देर मे छुट्टी मिली थी क्या?"

"नहीं, दाई, छुट्टी तो चार ही बजे मिल गई थी। ज़रा, एक साहब से मिलने चला गया था।"

इस वृद्धा के अतिरिक्त कृष्णचन्द्र का ससार में और कोई न था और कृष्णचन्द्र के सिवा वृद्धा का विराट् विश्व के असख्य जन-समुदाय मे कोई आत्मीय न था। कृष्ण के शैशवकाल से अब तक उसकी सेवा में ही वृद्धा ने अपने समय का विशेष अश ख़र्च किया था। इसलिए उसके हृदय मे कृष्ण के प्रति स्वाभाविक स्नेह अकुरित हो गया था— ऐसा स्नेह जो मातृ-स्नेह से अधिक पवित्र, निष्काम और उत्कृष्ट था। यही स्नेह वृद्धा के जीवन का आधार था। दो वर्ष हुए जब कृष्ण के माता-पिता का एकाएक एक ही मास में देहावसान हो गया, तब से वृद्धा का उत्तरदायित्व बहुत बढ गया था। वही उसका सब कुछ करती थी। वही उसके घर में सफ़ाई रखती थी। वही उसे खाना बनाकर खिलाती थी। वही उसकी चीज़े सँभालकर रखती थी। कृष्ण वृद्धा की सेवाओ का मूल्य अच्छी तरह समझता था। इसलिए वह भी उसका आदर करता था।

जब कृष्ण के पिता का देहावसान हुआ उस समय वह 'इन्टरमीडियट' मे पढता था। किसी तरह इन्टरमीडियट पास करने के बाद उसने एक सरकारी द.फ्तर मे नौकरी कर ली। कृष्ण कवि भी था। द.फ्तर के नीरस कार्यक्रम मे उसका मन तो अवश्य न लगता, लेकिन जीवन-निर्वाह का कोई दूसरा उपाय न था। कृष्ण दिन भर दफ्तर की फाइलो और मोटे-मोटे रजिस्टरों मे माथापच्ची करता और सन्ध्या-सबेरे साहित्य-सेवा मे रत रहता था।

सहन पार करके सीढ़ियो से ऊपर चढकर कृष्ण ने उस कमरे मे प्रवेश किया जिसमें वह सब कुछ करता था। वह इसी मे मनन-चिन्तन करता था, पढ़ता-लिखता था, मित्रो से मिलता था, आराम करता था। कमरे में सजावट तो नाम-मात्र को भी न थी, लेकिन सफाई यथेष्ट थी। फर्श पर एक फटी पुरानी दरी बिछी हुई थी, एक कोने मे एक पलङ्ग पडा हुआ था, दूसरे मे एक मेज़, एक आरामकुर्सी और तीन-चार साधारण कुरसियाँ। दीवारो मे लगी हुई आलमारियो मे पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ सजी हुई थीं। कृष्ण आरामकुरसी पर बैठ गया, गुल-दस्ता मेज़ पर रख दिया और जेब से बेला का पत्र निकालकर उसकी पंक्तियो पर फिर दृष्टि दौडाने लगा।

थोडी देर में वृद्धा एक हाथ मे सूखे हुए मेवो से भरी हुई तश्तरी और दूसरे मे जल का गिलास लिये हुए कमरे मे आई। तश्तरी और गिलास मेज़ पर रखकर वृद्धा ने कहा—उठो, बेटा, मुँह-हाथ धो डालो, जलपान कर लो।

"अभी उठता हूँ, दाई, तुम जाओ, काम-धन्धा देखो।"

"इस वक्त क्या खाओगे, बेटा? क्या बनाऊँ?"

"मैं तो इस वक्त यहाँ न खाऊँगा। एक साहब के यहाँ दावत है। तुम अपने लिए बना लो।"

"तो क्या बिलकुल न खाओगे! थोडा-सा खाकर जाओ, बेटा। वहाँ न जाने कब खाना मिले।"

"नही, बिलकुल न खाऊँगा।'

कृष्ण ने पत्र पर फिर दृष्टि जमा दी। कुछ निराश होकर वृद्धा चली गई।

थोड़ी देर के बाद कृष्ण उठ खडा हुआ। पत्र जेब मे रखकर उसने थोडा-सा मेवा खाया, जल पिया, कमरे से निकलकर दरवाज़ा बन्द किया, फिर नीचे उतरा।

वृद्धा ने पूछा—कब तक लौटोगे, भैया?

"कुछ ठीक नहीं है।" एक क्षण मे कृष्ण घर के बाहर हो गया। घर से निकलने के बाद मिस्टर कृष्णचन्द्र ने 'पार्क' की राह ली। पार्क मे टहलते-टहलते जब जी ऊब गया तब सिनेमा देखने चले गये। 'फ़िल्म' अच्छी थी, लेकिन मन न लगा। खेल के बीच मे ही उठकर, फिर 'पार्क' का रास्ता पकड़ा। पार्क पहुँचकर टहलने लगे। थोडी देर के बाद पार्क से निकलकर सडक पर इधर-उधर घूमने लगे। दस मिनट में फिर पार्क मे लौट आये।

आधी रात बीत चुकी थी। कृष्ण बेला के बॅगले के सामने नींब के एक छतनार वृक्ष के नीचे खड़ा हुआ आहट ले रहा था। ऊपर आकाश मे असख्य नक्षत्रो की झिलमिल ज्योति फैली हुई थी, नीचे सडक पर बिजली की बत्तियों का प्रकाश था। पूर्ण निःस्तब्धता छाई हुई थी। हाँ, रह-रहकर आस-पास के बॅगलो के चौकीदारो का तीव्र कर्कश गर्जन गूँज उडता था। सड़क सूनी पडी थी। बेला के बँगले में अन्धकार छाया हुआ था, किसी के बोलने-चालने की आवाज़ भी नहीं हो रही थी।

साहस करके धीरे-धीरे कृष्ण ने बॅगले में प्रवेश किया। सहसा एक ओर एक उल्लू चीख़ उठा। कृष्ण सहमकर मेंहदी की झाडी के समीप ठिठक गया। उसका हृदय एक प्रकार के अज्ञात भय और आशङ्का से काँप गया। दो-तीन बार चीख़ कर उल्लू शान्त हो गया। फिर निःस्तब्धता राज्य करने लगी। जी कडा करके कृष्ण फिर धीरे-धीरे आगे बढा। एक क्षण मे वह वाटिका में था।

"आप आ गये!" एक ओर से आवाज़ आई।

"हाँ, आ गया।"

"मै बड़ी देर से आपका इन्तज़ार कर रही थी।" बेला ने निकट आकर कहा—"मुझे डर लग रहा था कि शायद आप न आयेंगे।"

"यह कैसे मुमकिन था कि मै न आता। मै तो बडी देर से बाहर खडा हुआ था। सोच रहा था, अन्दर जाना मुनासिब है कि नही।"

"अगर मुनासिब न होता तो मै क्यो लिखती ?"

"इसी लिए तो मैं हाज़िर भी हुआ हूँ।"

"अन्दर तशरीफ़ ले चलिए।"

"नही, अन्दर तो न चलूँगा।"

"क्यो ? क्या पसोपेश है ?"

"बग़ैर आपका पूरा हाल जाने अन्दर चलना मुनासिब नहीं मालूम होता।"

"अगर यहाँ तक आना मुनासिब था तो अन्दर चलने में क्या हर्ज है ? अभी तक तो आपको मेरे ऊपर यक़ीन था, अब एतबार न करने की क्या वजह है ?"

इन शब्दो मे छिपी हुई ताड़ना ने कृष्ण के हृदय पर तीव्र आघात किया। उसने तुरन्त कहा—ख़ैर, आप मजबूर करती हैं तब चलिए, मैं तैयार हूँ।

"शुक्र है।"

"अब मुझे ज्यादा शर्मिन्दा न कीजिए। मै तो यो ही आपके एहसानो के बोझ से दबा हुआ हूँ।"

बेला का हृदय सरल गर्व और अनिर्वचनीय आह्लाद से भर गया।

कृष्ण को साथ लिये हुए बेला ने अपने शयनागार मे प्रवेश किया। उसने खटका दबाया, कमरे मे विद्युत्प्रकाश फैल गया। कृष्ण की आँखें बेला के चेहरे पर जम गईं, बेला की कृष्ण के चेहरे पर। दोनो की दशा उस प्यासे मनुष्य की-सी हो गई जो पानी पीता चला जाता हो, लेकिन प्यास न बुझी हो! दोनो के हृदयों मे सहस्रो ज्ञात-अज्ञात भावनायें आँधी के वेग से आन्दोलन करने लगीं।

अपने को सँभालकर आँखें झुकाकर एक गद्दीदार कुरसी की ओर सङ्केत करके बेला ने कहा—बैठिए।

अर्द्धचेतना की दशा भङ्ग हुई। कृष्ण बैठ गया। बेला भी एक कुरसी खींचकर बैठ गई।

कृष्ण के मुख की ओर देखती हुई बेला बोली—आपके दिल में शायद अभी तक यह ख़याल है कि आपको यहाँ बुलाकर मैंने कोई गुनाह किया है ! आपको यक़ीन दिलाती हूँ, मैं ऐसा नहीं समझती।

कृष्ण की आँखें भी बेला के मुख पर गड गई। फिर उसने पूछा—आपने मुझे इस वक़्त यहाँ क्यो बुलाया था ?

बेला सोचने लगी कि इस प्रश्न का क्या उत्तर दें। हाँ, मुझे क्यों बुलाया था ? कैसा विचित्र प्रश्न था ! एक क्षण मे उसने कहा—इसी लिए कि मै मजबूर हो गई थी। आपसे मिलने को, बातें करने को, जी बहुत चाहता था। क्या मेरे ख़त ने आपको इतनी-सी बात भी नहीं बतलाई ?

कृष्ण के मुख से एक दीर्घ-निःश्वास निकल गया। "हाँ, बेला, तुम्हारे ख़त ने मुझे सब कुछ बतला दिया था। और उससे भी पहले मेरे दिल ने मुझे सब कुछ बताया था। लेकिन मैं तुम्हारे मुँह से सुनना चाहता था। और क्या मैं जान सकता हूँ कि तुम कौन हो ?"

बेला के उत्फुल्ल मुखमण्डल पर विषाद की छाया दौड़ गई। वह कौन है ? कैसा अप्रिय, कैसा जटिल प्रश्न था। वह कई क्षण ठगी-सी बैठी रही; फिर उसने पीडित स्वर में कहा—आप क्यो जानना चाहते हैं कि मैं कौन हूँ ? मैंने तो आपसे यह सवाल नहीं किया ? मैं तो आपको न जानकर भी अच्छी तरह जानती हूँ।

कृष्ण की आँखें स्वतः झुक गईं। उसके चेहरे पर भी हृदय-वेदना की छाया व्यक्त थी।

"ख़ैर, मैं आपको बतलाऊँगी कि मैं कौन हूँ। मैं आपसे सब कह दूँगी। आप मुझे अपना पता दे सकते हैं ?"

जेब से 'फाउन्टेनपेन' और एक काग़ज़ निकालकर कृष्ण ने अपना पता लिखा, और काग़ज़ बेला को देकर उठ खड़ा हुआ।

"आप जा रहे हैं क्या ?"

"हाँ।"

"बैठिए। ऐसी क्या जल्दी है?"

"नहीं, अब जाऊँगा!"

"आप नाराज़ हो गये क्या?"

"नहीं, नाराज़ तो नहीं हूँ।"

"फिर आप इस तरह क्यों चले जा रहे हैं?"

"इसलिए कि मुझे अब अपने ऊपर एतबार नहीं है।"

"मुझे तो आपके ऊपर एतबार है!"

"लेकिन, मुझे तो अपने ऊपर एतबार नहीं है!"

कृष्ण शीघ्रता से कमरे के बाहर हो गया। बेला भी पीछे-पीछे थी। सायबान मे मूर्तिवत् खडी हुई बेला बडी देर तक उस ओर देखती रह गई जिधर कृष्ण अदृश्य हो गया था। फिर जब उसे होश आया और वह एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर शयनागार की ओर जाने को मुडी तब उसके आश्चर्य की सीमा न थी। सामने बिन्दो खडी थी।

"बेला!"

"क्या है, अम्मा!"

"यह आदमी कौन था?"

"कोई भी रहा हो, इससे तुम्हे क्या मतलब है?"

"यह बात ठीक नहीं है।"

"ठीक हो या न हो, इससे भी तुम्हे कोई मतलब नहीं है।"

"बेला! तेरी ऐसी ही बातें मुझे अच्छी नहीं लगती। अगर यह बात कहीं सेठजी को मालूम हो जाय तो हम कहीं की न रहे।"

"इसकी मुझे परवा नहीं है। मैंने उस खूसट सेठ के हाथ सब कुछ नहीं बेच डाला है। तुम मेरे ऊपर लडकपन से ज़ुल्म करती आ रही हो। तुम्हारा मुँह देखना भी पाप है।"

क्रोध से उबलती हुई बेला जल्दी-जल्दी अपने शयनागार मे चली गई, अन्दर से दरवाज़ा बन्द कर लिया, पलँग पर गिर पड़ी, और लोटने लगी। उसकी आँखो से अश्रु-धारायें बह निकलीं।

(४)

प्रातःकाल का समय था। कृष्ण आरामकुरसी पर लेटा हुआ, छत की ओर ताकता हुआ, एक नई कविता के लिए मसाला ढूँढने का प्रयत्न कर रहा था, किन्तु रात की स्मृतियाँ आ-आकर विघ्न डाल रही थीं। इसी समय वृद्धा ने कमरे में प्रवेश करके कहा—देखो, बेटा, अभी एक आदमी यह ख़त दे गया है।

वृद्धा के हाथ से लिफाफा लेकर कृष्ण ने पते पर दृष्टि डाली। हस्तलिपि बेला की थी। लिफ़ाफे में यह पत्र था—

"प्रियतम,

रात को आपने पूछा था कि मै कौन हूँ। उस समय तो मैं नहीं बतला सकी थी, लेकिन इस वक्त मैं आपसे सब कुछ कह दूँगी। हाँ, मैं आपसे सब कुछ कह दूँगी। मैं आपसे झूठ नही बोलूँगी। झूठ बोलने की गुञ्जाइश है, लालच भी होता है, लेकिन आपसे झूठ नहीं बोल सकती। कोई दिल मे बैठा हुआ कह रहा है, आपसे झूठ न बोलना चाहिए। चाहे मेरा सब कुछ चला जाय, लेकिन मै आपके सामने वह न बनूँगी जो नही हूँ।

"मैं कौन हूँ! अच्छा, बतलाती हूँ—मैं वह हूँ जिसे दुनिया बद-चलन कहती है। हाँ, मैं पतिता हूँ। मेरी मा ने मुझे इसी लिए पाल-पोसकर बडा किया था कि मै अपना तन बेचकर सुख से ज़िन्दगी बिता सकूँ। शुरू से मुझे इसी बात की तालीम दी गई थी कि मुझे चाहे जिस तरह हो, पुरुषों को रिझाना चाहिए। जब से बडी हुई, बराबर यही करती रही। अभी दो ही दिन पहले तक उस सेठ को रिझाती रही जिसकी बदौलत इस समय यहाँ हूँ। लेकिन अब मुझसे यह व्यापार न होगा। चाहे मेरी धज्जी-धज्जी उड़ जाय, अब मुझसे यह न होगा। जिस दिन आपको पहले-पहल देखा था, उसी दिन से मन बराबर कहता है, अब यह न करना चाहिए।

"आपने मेरे ऊपर न जाने कैसा जादू कर दिया है। न किसी काम में मन लगता है, न कुछ अच्छा लगता है। हर वक्त आप ही का ध्यान बना रहता है। बराबर जी यही चाहता है कि आप कहीं देखने को मिल जाते। मैं जानती हूँ, मेरी-जैसी पापिन आपके लायक़ किसी तरह नहीं हो सकती। फिर किस मुँह से आपसे प्रेम की भिक्षा माँगूँ! लेकिन पापी मन नहीं मानता। जी चाहता है, एक बार आपसे विनती करूँ। मैं वादा करती हूँ, अब अच्छी बनूँगी। आपकी सेवा टहल करूँगी, आपके यहाँ झाड़ू-बुहारी करूँगी, बर्तन मलूँगी। आपसे मै कुछ न माँगूँगी। सिर्फ़ आपके निकट रहना चाहती हूँ और मुझे कुछ न चाहिए।

"क्या आपको मेरी प्रार्थना मंज़ूर है? अगर मंज़ूर हो तो कृपा करके आज शाम को फिर उसी रास्ते पर आकर दर्शन दीजिए। मै इन्तज़ार करती रहूँगी।

आपके दर्शन की प्यासी
बेला।"

पत्र पढ़कर, कृष्ण माथा पकडकर बैठ गया। कैसी विकट सूचना थी! जो खरा सोना दिखाई देता था, पीतल निकला! क्या अच्छा होता अगर वह बेला से कुछ न पूछता। इस जानने से तो वह न जानना ही अच्छा था!

(५)

सन्ध्या का समय था। बेला वाटिका मे इधर-उधर टहलती हुई कृष्ण की प्रतीक्षा कर रही थी। वह रह-रहकर सडक की ओर देख लेती थी। घण्टे के बाद घण्टा बीतने लगा। देखते-देखते दिन डूब गया, गोधूलि की बेला हो गई। सड़क पर कितने ही मोटर और गाडियाँ निकलीं, कितने ही आदमी गुज़रे, लेकिन वह जिसकी प्रतीक्षा कर रही थी, वह न दिखाई दिया। गोधूलि रात्रि मे परिणत हो गई, लेकिन वह न दिखाई दिया।

बेला का हृदय अकथनीय निराशा की वेदना से भर गया। वह वहीं घास पर लद-से बैठ गई, और आँचल में मुख छिपाकर रोने लगी—फूट-फूटकर रोने लगी। थोडी देर के बाद जब वेदना का वेग कुछ कम हो गया तब वह-आँखें पोछकर उठ खडी हुई और घर के भीतर चली गई। शयनागार में जाकर पलँग पर लेटकर बेला सोचने लगी—वे क्यो नहीं आये? क्या अब वे मुझसे कभी न मिलेगे? मैंने उन्हे पत्र क्यो लिखा?

इतने मे एक दासी ने आकर कहा—नाश्ता ले आऊँ, दीदी?

"नहीं।"

"कुछ खा लो, दीदी। रोज़ तो चार ही बजे नाश्ता कर लेती थीं, आज इतनी देर हो गई।"

"नहीं, मैं कुछ न खाऊँगी। तू यहाँ से जा।"

दासी हारकर चली गई। भावावेग से आन्दोलित, तकिये मे मुख छिपाकर, बेला फिर विचारो में मग्न हो गई। सहसा उसे कमरे में किसी के प्रवेश करने की आहट मिली। बेला ने देखा, सेठजी खड़े हुए मुस्करा रहे है।

पलँग पर बैठकर बेला का हाथ पकड़कर सेठजी ने मुस्कराते हुए पूछा—कैसी तबीयत है?

हाथ छुडाकर शीघ्रता से पलँग से उतरकर बेला एक ओर खडी हो गई। आश्चर्य से चकित होकर, मुँह खोले हुए सेठजी बेला के चेहरे की ओर देखने लगे।

"कैसी तबीयत है?"

"अच्छी हूँ।" बेला ने अन्यमनस्कता से उत्तर दिया।

"नहीं, तुम अच्छी तो नहीं दिखाई देतीं?"

"मैं बिलकुल अच्छी हूँ। और आपको यह भी बतलाये देती हूँ कि मुझे आज सवेरे तक जो रोग था वह बनावटी था।"

"बनावटी था? बेला, तुम यह क्या कह रही हो? तुम्हे आज क्या हो गया है?"

"मुझे कुछ नहीं हो गया है, और न मैं आपसे कुछ झूठ कह रही हूँ। आज मै आपको यह भी बतला देना चाहती हूँ, अब से मै आपके हाथ अपनी इज्ज़त नहीं बेच सकती।"

अधेड सेठ के विशाल मुखमण्डल पर रोष और अविश्वास के भाव व्यक्त हो गये। क्रोध और निराशा-भरे स्वर में सेठजी बोले—इसका अर्थ यह है कि अब तुम्हे मुझसे मुहब्बत नहीं रही?

"मुझे आपसे कभी मुहब्बत नहीं थी। अगर मैं आपके साथ मुहब्बत दिखाती थी तो इसी लिए कि मुझे आपसे रुपया ऐंठना था।"

सेठजी ने क्रोध से उबलते हुए कहा—मैंने तुम्हे कीचड से निकालकर रानी बना दिया। लेकिन अगर तुम्हारी मर्ज़ी यही है तो तुम्हारी फिर वही हालत हो जायगी जो यहाँ आने से पहले थी।

"मुझे इसकी परवा नहीं है।" बेला, सेठजी के चेहरे की ओर घृणा से देखती हुई, बोली—"मैं कीचड़ मे लोटूँगी या राजमहल मे रहूँगी, इसकी आपको फिक्र न होनी चाहिए।"

"ओह! बड़ा धोखा हुआ।" पलॅग से उठकर सेठजी धीरे-धीरे कमरे से बाहर हो गये।

बेला फिर पलॅग पर गिर पड़ी और गहरे विचार मे डूब गई।

(६)

रात के ग्यारह बज चुके थे। कृष्ण के कमरे मे एक हरीकेन लालटेन जल रही थी और एक मोमबत्ती। कृष्ण पलॅग पर पडा करवटे बदल रहा था। आज सारे दिन वह कुछ नही कर सका। न तो वह दफ्तर गया, न घर ही पर कुछ कर सका। दिन भर उसने कुछ खाया भी नहीं। शाम को वृद्धा के बहुत आग्रह करने पर उसने थोडा-सा भोजन किया था। तीव्र आन्तरिक आन्दोलन और सारे दिन घर में पडे रहने के कारण उसका चित्त बहुत अशान्त हो गया था। इसलिए भोजन के बाद वह पार्क गया। किन्तु वहाँ भी शान्ति प्राप्त न हुई। आज न पार्क

का शीतल समीर ही काम दे सका, न कुसुम-दलो की मनोमुग्धकारी भीनी-भीनी सुगन्ध, न वहाँ की सुखद नीरवता। कृष्ण निराश होकर पार्क से अभी लौटा था। जिन आकाक्षाओ की सृष्टि में कई दिनो से उसका मस्तिष्क व्यस्त था, उन सबका आज इस प्रकार खून हो गया। फिर कृष्ण का कवि-हृदय क्यो न आन्दोलित हो उठता!

सहसा कमरे में किसी के प्रवेश करने का शब्द हुआ। कृष्ण ने देखा, दरवाज़े के पास बेला खड़ी हुई थी। वह चकित रह गया। कई क्षण वे एक दूसरे को एकटक देखते रह गये। फिर पलँग से शीघ्रता से उतरकर कृष्ण ने आश्चर्यपूर्ण स्वर मे पूछा—तुम यहाँ कैसे आ गई, बेला!

बेला कुछ पीड़ित स्वर मे बोली—क्यो, मेरे यहाँ आने से आपका कोई बड़ा नुकसान हो गया क्या?

"नही, मेरा मतलब यह था कि बाहर का दरवाज़ा बन्द था, फिर तुम यहाँ कैसे आईं!"

"नहीं, बाहर का दरवाज़ा तो बन्द नहीं था। अगर बन्द भी होता, तो भी मै इस वक़्त बग़ैर आपसे मुलाक़ात किये न जाती।" बेला के इन वाक्यो मे विचित्र सङ्कल्प था।

एक कुरसी की ओर संकेत करके कृष्ण ने कहा—बैठो।

बेला बैठ गई। कृष्ण एक दूसरी कुरसी खींचकर बैठ गया।

"आपको मेरा ख़त मिल गया था!"

"हाँ, मिल तो गया था।" कृष्ण ने अवरुद्ध कण्ठ से कहा।

"फिर आप आये क्यो नहीं!"

इन शब्दो मे कृष्ण को एक विचित्र उलहना, एक विचित्र ताडना सुनाई दी। वह कोई उत्तर न दे सका। मेज़ पर कुहनियाँ टेककर उसने हाथो मे मुख छिपा लिया। फिर कई क्षणो के बाद जब कृष्ण ने सिर उठाया तब बेला उसके चेहरे की ओर देखकर सहम गई। विकट आन्तरिक संग्राम की छाया उस मुख पर स्पष्ट अङ्कित थी। भावों का कैसा तीव्र आन्दोलन था!

दोनो की आँखे मिलीं। बेला ने सब कुछ जान लिया। उसकी बड़ी-बड़ी आँखो से आँसू निकल-निकलकर कपोलो पर ढुलकने लगे। कृष्ण ने फिर हाथों मे मुख छिपा लिया, शायद आँसू छिपाने के लिए।

थोड़ी देर के बाद जब कृष्ण ने सिर उठाया तब बेला कमरे में न दिखाई दी।

× × × ×

सवेरे आठ बजे कृष्ण की आँखे खुलीं। बड़ी रात तक जागते रहने और अच्छी तरह नींद न लगने के कारण वह इतनी देर तक सोता रहा। बिस्तर से उठकर उसने एक सिगरेट जलाई और आरामकुरसी पर बैठकर धुएँ के सुरसुरे फेकने लगा। रात की घटना का दृश्य आँखो के सामने खिच गया, एक-एक बात याद आने लगी।

इतने मे वृद्धा हाथ मे लकड़ी का एक छोटा-सा बक्स लिये हुए कमरे मे आई।

"इसमे क्या है, दाई!"

"देखो, भैया न जाने क्या है, बडे सवेरे तडके इसे एक औरत दे गई थी। कह गई थी, जैसे ही भैया जागे, इसे दे देना। मैंने तो उससे बहुत पूछा कि इसमें क्या है, तू कौन है; लेकिन उसने कुछ नही बताया। मालूम तो किसी भले घर की होती थी। बड़ी सुन्दर थी। लो, बेटा, अपनी चीज़ सँभालो।" बक्स मेज़ पर रखकर वृद्धा धीरे-धीरे बड़बडाती हुई नीचे चली गई—मेरी समझ मे तो कुछ नहीं आता। इसके पास न जाने कैसे-कैसे लोग आते रहते हैं। इसे आज-कल न जाने क्या हो गया है। न कुछ खाता है न पीता है।

बक्स पर एक लिफ़ाफ़ा भी रक्खा हुआ था। लिफ़ाफ़े मे एक कुञ्जी थी। कुञ्जी निकालकर कृष्ण ने शीघ्रता से बक्स खोला। बक्स मे दो हज़ार के नोट थे, सोने के बहुत-से गहने थे, और यह पत्र था—

"मेरे प्राण से अधिक प्यारे !

अब मैं आपके रास्ते का काँटा न बनूँगी। मैंने आपसे जो प्रार्थना की थी, उसी का उत्तर सुनने के लिए रात को आपके पास गई थी। आपके बिना कहे ही मैं आपका जवाब जान गई। हाँ, मै सब कुछ जान गई। सचमुच, मैं आपकी लौंडी होने के लायक़ भी नहीं हूँ।

"आपने मेरी आँखें खोल दीं, मुझे सत्य का मार्ग दिखा दिया। अब इसी मार्ग पर चलूँगी। मुझे आशा है, कभी न कभी आपको फिर पाऊँगी, किसी न किसी जन्म मे आपको जरूर पाऊँगी।

"ये रुपये और गहने दिये जाती हूँ। आपको भेट करने लायक़ तो ये नही हैं। ख़ैर, आप इनका जो जी चाहे करें।

"शायद आप मुझे कभी ढूँढने की कोशिश करें। लेकिन आप मुझे ससार में कहीं न पायेंगे। मेरा यह पापी शरीर आपके लायक़ नहीं।

बेला।"

पत्र पढते-पढते कृष्ण ने हाथो में मुख छिपा लिया। उसकी आँखों से अश्रु-धारायें प्रवाहित हो चलीं। मेज़ पर रुपये और गहने फैले हुए थे। एक ओर सिगरेट जल रही थी। और कृष्ण की उँगलियो की सोंको से निकल-निकलकर गर्म आँसू की बूँदे घुटनो पर फैले हुए पत्र पर टप-टप गिर रही थीं।

— —

अनुभव

(१)

जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए साहस, धैर्य और शारीरिक वल-जैसे जँचे हुए अस्त्रों की आवश्यकता होती है; किन्तु, साधारणतः यह हमें उस समय ज्ञात होता है जब हम युद्ध के चक्र-व्यूह में फँस जाते हैं

और शस्त्रो के प्राप्त करने का कोई उपाय नही होता। अभी मैं रङ्गभूमि के बृहदाकार स्वर्ण-द्वार पर मुग्ध दर्शक की भाँति खडा हुआ हर्ष, भय और विस्मय से जीवनाभिनय देख ही रहा था कि सहसा किसी अज्ञात शक्ति ने मुझे युद्धक्षेत्र के मध्य मे ढकेल दिया। फिर चारो ओर से मेरे ऊपर आवश्यकताओ का तीव्र प्रहार होने लगा। अब मुझे होश आया और ज्ञात हुआ कि यह स्वप्न का सुखद अभिनय नहीं, वास्तविकता का विकट द्वन्द्व है। मैंने अपने को टटोलकर देखा, तो मेरे पास एक निर्बल लेखनी और साधारण सरल बुद्धि के सिवा और कुछ न था। प्रौढ होकर वे चाहे जो चमत्कार दिखायें, किन्तु आरम्भ में उनसे कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। यथार्थ तो यह है कि उस दौड मे मेरी दशा एक लद्दू-टट्टू की-सी थी। न तो मेरे पास कोई डिग्री थी, न डिप्लोमा और न विशेष शारीरिक बल ही। यदि आपमे असाधारण योग्यता नही, किन्तु आप किसी विश्वविद्यालय के कम-से-कम अण्डर-ग्रेजुएट या ग्रेजुएट हैं, तो विशेष सम्भावना यही है कि आप अपनी जीवन-तरी सुगमता से खे लेंगे। लेकिन यहाँ तो रोना यह था कि न पतवार ही पास मे थे, न बादबान। फिर मेरी नौका क्यो न इधर-उधर डगमगाती फिरती? जब मेरे सहपाठी कोर्स की पुस्तको के साथ माथापच्ची करते होते, मै 'चन्द्रकान्ता' की अय्यारियो के मज़े लेता था। 'आँख की किरकिरी' के मानसिक आघात-प्रतिघात देखता। मेरे साथी फील्ड मे गेद के साथ दौड़ते होते, किन्तु मै अपने कमरे मे पडा हुआ किसी-न-किसी उपन्यास के पृष्ठो पर दृष्टि दौडाता रहता। फिर डिग्री, डिप्लोमे मिलते तो कैसे; शारीरिक बल प्राप्त होता तो किस प्रकार? किन्तु ससार संसार है, मानव-जीवन मानव-जीवन! संसार मे रहकर जीवन के सुख-दुःख अवश्य सहने पड़ेंगे, उसके द्वन्द्व में अवश्य भाग लेना होगा।

ख़ैर, बड़ी-बडी कठिनाइयाँ झेलने के बाद मुझे एक दैनिक समाचार-पत्र के कार्यालय मे नौकरी मिल गई। किन्तु वेतन बहुत कम था, इस-लिए कि मेरे नाम के पीछे कोई डिग्री नहीं थी। मैं दिन-भर दफ्तर में

तारो और प्रूफ-शीटों के साथ माथापच्ची करने और शाम-सवेरे अपनी लेखनी द्वारा साहित्य-सेवा करने लगा। किन्तु मैं सन्तुष्ट न था। जहाँ नित्य नये स्वप्नो की धूम हो, जहाँ आकाक्षायें ज़ोर मारती हो, वहाँ सन्तोष कहाँ? और, कदाचित् यह उचित भी था। क्योकि मेरे विचार में सन्तुष्टि उन्नति की घातिका है। युवकों के लिए तो यह मृत्यु के सन्देश से कम नहीं।

(२)

कदाचित् अनुभवहीनता के समान संसार मे कोई दुर्भाग्य नहीं। इसी के कारण हम अमृत को विष समझ बैठते है और विष को जीवन-वर्द्धक सुधा। किन्तु यह जीवन की अमूल्य अवस्था है; क्योकि इसके बिना अनुभव का मूल्य ही क्या? उस चीज़ की क़द्र हम क्या करेगे, जिसके लिए कड़ा दाम न देना पडे?

मानव-स्वभाव की विशेषताओं मे एक यह भी है कि हमें उसी वस्तु को प्राप्त करने की उत्कट इच्छा होती है, जो दुर्लभ है; और उस चीज को हम आँख उठाकर भी नहीं देखते जो सहज ही प्राप्त हो सकती है। इस तरह कितने ही बहुमूल्य रत्नो को पैरों के नीचे रौदकर हम उस चमकदार पत्थर की ओर लपकते हैं जो अन्त मे मूल्यहीन सिद्ध होता है।

आज मैं अपने अनुभवो से पाठकों का मनोरञ्जन करता हूँ; किन्तु एक दिन वह भी था जब इनके अभाव ने मुझे धोके में डाल दिया था। उन दिनों मेरे स्वप्न-साम्राज्य मे ऐश्वर्य-पूरित अट्टालिकायें शोभा देती थीं, लताओ और फूलों से सज्जित झोपड़ों का वास न था।

गोधूलि का समय था। मैं छड़ी घुमाता हुआ दफ्तर से बाहर निकला और 'हाफिज़' का यह शेर गुनगुनाता हुआ घर की ओर चला—

"शबे तारीक व बीमे मौज व गिरदाबे चुनी हायल,
कुजा दानन्द हाले मा सुबुकसाराने साहिल हा।"

[रात अँधेरी है, लहरो का आतङ्क छाया हुआ है, भँवरे उठ रही हैं। तट पर आराम से खड़े हुए लोग हमारा हाल क्या जानें।]

इस शेर में मुझे विचित्र सान्त्वना मिल रही थी। मेरे हृदय पर आत्मोत्कर्ष का नशा-सा छा गया। और, मुझे पूरा विश्वास है कि अगर मुझे दूसरे राहगीरो का ख़याल न होता तो मैं उस आत्मिक उल्लास की दशा मे नाचने लगता। ख़ैरियत यह थी कि यह आध्यात्मिक जोश मेरे शरीर की गति द्वारा कुछ-कुछ निकल रहा था।

मै यह मीठे मनोमोदक उडा ही रहा था कि सहसा पीछे एक मोटर गला फाड़कर चीख़ने लगी। मै पटरी पर चल रहा था, सडक ख़ाली थी; फिर यह चीख़ क्यो? फिर मुझे ऐसा ज्ञात हुआ, मानो वह मेरी दयनीय दशा पर हँस रही है। एक क्षण मे मोटर मेरे ऊपर धूल की वर्षा करती हुई निकल गई। गर्द मे नहाया हुआ मैं भागती हुई मोटर की ओर क्रोध से देखने लगा। कार मे बैठे हुए लोग कैसे विचारहीन हैं! अपने आराम के आगे किसी दूसरे का कुछ ख़याल नहीं! फिर एक क्षण मे मेरे मुख पर व्यंग्य की मुस्कराहट व्यक्त हो गई। यदि मैं उनकी दशा मे होता, तो क्या मै भी ऐसा ही न करता? ज़रूर करता। तब मेरे हृदय मे उन भाग्यवानों के प्रति दया उदित हुई। किन्तु एक ही क्षण मे दया ईर्ष्या मे परिणत हो गई। वे कैसे आराम से बैठे हुए थे! ईर्ष्या के आवेग मे मुझे ऐसा अनुभव हुआ, मानो उस वैभव के वे पात्र न थे, मैं था!

जब धूल कम हुई और मैं सडक के मोड पर पहुँचा तो मैंने देखा कि मोटर पचास गज़ की दूरी पर, दाहने हाथ की ओर, एक कोठी में जा घुसी। उस कोठी के कलश और कँगूरे आसपास की अट्टालिकाओं पर राज्य करते हुए जान पडते थे। दो मिनट में मै कोठी के सामने था। उस विशाल भवन की बनावट और कारीगरी देखकर मैं चकित रह गया। मुग़ल और पाश्चात्य शिल्प-शैली का कैसा सुन्दर सम्मिश्रण था! सारा भवन विद्युत्-प्रकाश से जगमगा रहा था और उसकी दीवारों से भाँति-भाँति के रङ्ग प्रस्फुटित हो रहे थे। एक वर्ष के बाद आज मैं इस मार्ग पर आया था। इसी लिए इस इमारत के होने का

मुझे ज्ञान न था। भवन के सामने खड़ा हुआ उसकी भीतरी सजावट की कल्पना करने लगा। उसमे रहनेवाले कैसे आनन्द से समय व्यतीत करते होंगे! ईर्ष्या की आग मे जलता हुआ मैं विधाता को उसके अन्याय के लिए कोसने लगा। एक वे हैं कि महलों मे रहते हैं, मोटरो पर दनदनाते हैं। एक मैं हूँ कि झोपड़े मे रहता और थका हुआ होने पर भी पैदल चलता हूँ। फिर उसे समदर्शी क्यो कहते है?

मै अपने रचयिता के विरुद्ध और न जाने क्या क्या सोचता, यदि भाग्यवश इसी समय पीछे से आती हुई एक मोटर की रोशनी मेरे ऊपर न पडती और मुझे आगे बढने के लिए विवश न कर देती। यदि कोई मुझे यहाँ पर खडा हुआ और इस कोठी को इस तरह देखता हुआ देख ले तो क्या समझे? जरूर सोचे कि मैं या तो कोई चोर हूँ या डाकू, या किसी की हत्या के उपाय सोच रहा हूँ! तब अपनी दशा पर मैं मन-ही-मन हँस पड़ा और धीरे-धीरे आगे बढा।

मै अपने विचारो मे व्यस्त चला जाता था। सहसा किसी के हँसने की आवाज़ सुनाई दी। उस हास मे दो स्वर मिले हुए थे—एक कोमल था, दूसरा कर्कश।

मैंने आँखें फाडकर सामने देखा। दो व्यक्ति आते हुए दिखाई दिये। एक स्त्री थी, दूसरा पुरुष। वे कुछ बातें कर रहे थे। मेरे निकट पहुँचकर वे चुप हो गये। वे आगे बढ़ गये और मुझे फिर उनकी हँसी सुनाई दी। मेरे मुख से एक दीर्घ निःश्वास निकल गया। मेरे मन में यह विचार आया कि यदि मार्ग कण्टक-रहित हो तो यात्रा से लाभ ही क्या?

आध घण्टे में घर पहुँचकर जब मैंने अपने कमरे का दरवाज़ा खोला और रोशनी की तो किवाड़ों के पास शाम की डाक पडी हुई दिखाई दी। दो-तीन पत्र थे और एक मिलने का कार्ड। कार्ड पर लिखा था—

कुँअर धीरसिंह

ये धीरसिंह कौन महाशय हैं? मेरे मित्रो मे किसी का नाम धीरसिंह न था। मैंने बहुत ज़ोर दिया, किन्तु स्मृति सहायता न दे सकी। दूसरे पत्र विशेष महत्त्व के न थे। कपडे उतारकर जब मैं सन्ध्याकालीन क्रियाओ से निवृत्त हुआ और जब खाना खाकर सोने के लिए लेटा तो बराबर उसी कार्ड की बात सोच रहा था।

प्रातःकाल नौ बजे थे। मै अपने कमरे मे बैठा हुआ एक कहानी लिख रहा था। इसी समय मेरे घर के सामने एक मोटर आकर रुकी। फिर दो-तीन बार हार्न बजा। मैने उधर विशेष ध्यान नहीं दिया। गली मे अकसर मोटरे आया-जाया करती थीं। दो मिनट के बाद किसी ने मेरे दरवाज़े के सामने आकर पुकारा—बाबू साहब! बाबू साहब!

मैने दृष्टि उठाकर अधखुले दरवाज़े की ओर देखा। एक आदमी खड़ा हुआ था, जो आकार से शोफर जान पड़ता था। मैने पूछा—किसे ढूँढ़ते हो भाई?

"बाबू मुकुटविहारी साहब यहीं रहते हैं?"

"हाँ, कहो क्या है।"

"ज़रा नीचे तशरीफ लाइए। कुँअर धीरसिंह साहब आपसे मिलने के लिए बाहर खड़े हुए हैं।"

"अच्छा, आया भाई।"

जिन महाशय के विषय मे कल रात से ही सोच रहा था उन्हे इस प्रकार अपने घर के सामने पाकर मेरा कौतूहल बढ़ गया। मै नङ्गे-पैर नीचे दौडा और दरवाज़े की ओर लपका। इधर मै दरवाज़े के बाहर हुआ, उधर एक महाशय भडकीले राजसी वस्त्र धारण किये, मोटर से उतरकर मेरी ओर बढ़े। उस मोटर को देखकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। यह वही कार थी जिसने कल मेरे ऊपर धूलवर्षा की थी। अपनी ईर्ष्या की बात याद करके मुझे उन महाशय का अभिवादन करने में एक प्रकार की हिचक हुई। किन्तु सभ्य-समाज मे अब तक बिना प्रयोजन

ही नहीं उठा-बैठा हूँ। एक क्षण में मैंने अपने मनोभाव पर विजय प्राप्त कर ली और मुस्कराते हुए बढ़कर कुँअर साहब से हाथ मिलाया।

"अन्दर तशरीफ़ ले चलिए।"

"चलिए।"

मै कुँअर साहब को अपने कमरे मे लिवा ले गया और कुर्सी पर रक्खा हुआ समाचार-पत्रो का ढेर हटाकर उसे तौलिए से साफ करने लगा। कुँअर साहब अपने जूते उतारते हुए बोले—यह आप क्यो तकलीफ़ कर रहे है!

मुझे कुँअर साहब की विनयशीलता का प्रमाण मिला। किन्तु मैंने इस समय अवहेलना ही उचित समझी। कुर्सी साफ की और उसकी ओर सङ्केत करके कहा—तशरीफ रखिए।

मैं क़ालीन पर जा बैठा। कुँअर साहब क्षणभर मुस्कराते हुए चुपचाप खड़े रहे। फिर मेरे समीप ग़लीचे पर आ बैठे। उन्होने मेरे चेहरे की ओर देखकर कहा—आपने मुझे अभी तक नहीं पहचाना?

मैं (अपनी झेंप को छिपाने का प्रयत्न करते हुए)—आप कहते तो सच हैं, लेकिन इस वक्त मुझे ऐसा मालूम हो रहा है, गोया मैंने आपको पहले कहीं देखा है।

कुँअर साहब ने मुझे दया के भाव से देखकर कहा—स्कूल का ज़माना याद कीजिए।

मेरे मस्तिष्क मे विद्यार्थी-जीवन की घटनायें दौड़ने लगीं। सहसा मै उछल पड़ा और कुँअर साहब का हाथ पकड़कर झकझोरें देता हुआ बोला—तो आप वही धीरसिंह हैं। भई, कैसे बदल गये हो।

कुँअर साहब मुस्कराते हुए बोले—मित्र, समय अपने चिह्न छोड़े बिना नहीं रहता। आप भी तो बदल गये हैं।

मुझे आश्चर्य हुआ। मैं जैसा दस वर्ष पूर्व था, आज भी अपने को वैसा ही पाता था। कुँअर साहब ने मेरे मुख का भाव देखकर कहा—आपको ताज्जुब हो रहा है, यह स्वाभाविक ही है। दुनिया की

नज़रों में हम कितने ही बदल जायँ, अपनी नज़र में नहीं बदलते। मैं मानता हूँ, आपकी सूरत ज़्यादा नहीं बदली है; लेकिन पहले आपमे यह तकल्लुफ न था।

मुझे फिर परास्त होना पड़ा। एक क्षण चुप रहकर उन्होंने फिर कहा—इसमें आपका कोई क़ुसूर नहीं। शायद इसका कारण यह हो कि हम इतने दिनो के बाद मिले हैं। मैं कल शाम को भी हाज़िर हुआ था, लेकिन उस वक़्त आप मकान पर तशरीफ न रखते थे। मुझे नाउम्मीदी की हालत मे चला जाना पडा।

"हाँ, मुझे आपका कार्ड मिला था।"

कुँअर साहब (मुस्कराते हुए)—मैंने सोचा, आज सवेरे ही मुहासरा करूँ; डर था कि आप कहीं आज भी निकल भागे।

"बड़ी इनायत की। शुक्रिया अदा करता हूँ।"

कभी मै अपने मेहमान को देखता था, कभी अपने घर को। सम्पन्नता और हीनता का कैसा असङ्गत समागम था! एक ओर कुँअर साहब के बहुमूल्य वस्त्र थे, दूसरी ओर मेरा फटा-पुराना फर्श। मेरा हृदय एक प्रकार की लज्जा से भर गया।

कुँअर साहब ने कहा—मैं आज आपको मुबारकबाद देने के लिए आया हूँ। मैंने आपकी रचना पढ़ी है। कितनी अच्छी है! तारीफ नहीं हो सकती!

मैं (प्रसन्नता छिपाने का प्रयत्न करते हुए)—आपको कहाँ मिली?

"मैंने अपने एक मित्र से एक पुस्तक पढने के लिए माँगी, उन्होंने मुझे एक उपन्यास लाकर दिया। मैंने लेखक का नाम देखा, कुछ परिचित सा जान पडा। एक वर्क़ और उलटा, तो आपका चित्र लगा देखा। मुझे यह बात जानकर कि यह मेरे एक मित्र की लिखी हुई पुस्तक है, जितनी ख़ुशी हुई, बयान नहीं की जा सकती। कैसे उत्साह से मैने वह उपन्यास पढ़ा। फिर आपसे मिलने के लिए तबियत ऐसी परेशान हुई कि मैंने उसी दिन आपका पता मालूम किया, और आज यहाँ हाज़िर हूँ।"

"शुक्रिया अदा करता हूँ। आपसे दाद पाकर मुझे जो ख़ुशी हुई, वह भी बयान नहीं हो सकती।"

"वाक़ई आपने कमाल किया है।"

"आदाब अर्ज़ करता हूँ।"

एक क्षण चुप रहकर मैंने कहा—अच्छा, अपने हालात तो बताइए।

कुँअर साहब (हँसकर)—हाँ, मेरा हाल भी सुन लीजिए। क़रीब पाँच साल हुए, मुझे कुछ घरेलू झगडो के कारण पढाई बन्द कर देनी पडी थी। तीन-चार मास घर पर रहकर मैं भ्रमण के लिए निकल पड़ा। तब से अभी पिछले वर्ष तक मैं सफर पर ही रहा। अभी गत वर्ष चचा साहब के आग्रह के कारण मुझे घर लौटना पडा। इस यात्रा का हाल मैंने 'ज्योति' मे लिखा था।

"अच्छा! तो वह लेख आप ही के थे? भई, बडे अच्छे थे। वह तो इस काबिल हैं कि पुस्तक के रूप में छापे जायँ।"

"हाँ, एक साहब ने मुझे इसके बारे में लिखा तो था। यह तो बताइए, इस समय क्या कर रहे हैं? फ़ुरसत हो तो ज़रा मेरे साथ चलिए।"

"कोई ख़ास काम तो नहीं है, चलिए। लेकिन मुझे आफिस जाना है।"

"आफिस आप कै बजे जाते हैं?"

"दो बजे के क़रीब।"

"तब तो बहुत वक्त है। उधर से ही चले जाइएगा।"

"अच्छी बात है, चलिए।"

कपडे पहनकर मैं कुँअर साहब के साथ हो लिया। हम दोनो मोटर में जा बैठे। मोटर चली। पन्द्रह मिनट के बाद वह उसी कोठी मे घुसी, जिसके द्वार पर खड़े होकर कल मैंने उसके स्वामी की सुरुचि की प्रशंसा की थी। आज उस कोठी मे प्रवेश करते समय मेरे हृदय में कल की-सी ईर्ष्या न थी। जो कल उसका कोई न था, आज वही उसका अतिथि था।

मोटर सायबान में पहुँचकर रुकी। एक वर्दीपोश दरबान समीप आया और मोटर का पट खोलकर अदब से एक ओर खड़ा हो गया। मैं उतर पड़ा और मेरे पीछे कुँअर साहब*। कुँअर साहब मुझे ड्राइंग-रूम में लिवा ले गये। यहाँ पहुँचकर मै दङ्ग रह गया। कोठी की भीतरी सजावट मेरी कल्पना से कहीं अधिक सुन्दर थी। कमरे का फ़र्श भाँति-भाँति के सुन्दर क़ालीनो से ढका हुआ था। स्थान-स्थान पर सोफ़े, कोचें, मेज़े और कुर्सियाँ रक्खी हुई थी। ताक़ो पर रङ्ग-बिरङ्गे गुलदस्ते और खिलौने सजे हुए थे। दीवारो पर देश-विदेश के कुशल चित्रकारो के सर्वाङ्ग-सुन्दर चित्र टँगे थे। सुरमई रङ्ग से पुती हुई छत से झाड़ लटक रहे थे, जिनमे बिजली की बत्तियाँ लगी हुई थी। बड़े-बड़े दरवाज़ो पर रङ्गीन रेशमी परदे लगे थे। मैने एक सोफे पर बैठकर कहा—यहाँ मुझे ऐसा मालूम हो रहा है, गोया स्वर्ग में आ गया हूँ। सचमुच, आप लोग बड़े भाग्यवान् हैं।

कुँअर साहब मेरे समीप बैठकर मुस्कराते हुए बोले—आपका ख़याल गलत है। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि यह स्थान वैसे आनन्द का नहीं है, जैसा समझा जाता है। यहाँ भी सुख-दु.ख की वही समस्याये हैं जो आपको हर जगह मिलेगी।

मै कुँअर साहब के मुख की ओर सरल आश्चर्य से देखने लगा। कुँअर साहब बोले—आप समझते हैं कि मैं बड़ा सुखी हूँ। यह इसलिए कि आप मेरा हाल नहीं जानते।

मेरा कौतूहल बढ गया। तो इनकी भी कोई अपनी कहानी है! मैंने गम्भीरता से सिर हिलाते हुए कहा—हाँ भई, हम मिले भी तो बहुत दिनों के बाद हैं; और फिर अभी आपको अपना हाल भी तो सुनाना है।

कुँअर साहब ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर कहा—हाँ, कभी मैं आपको अपना क़िस्सा सुनाऊँगा।

कुँअर साहब ने समीप की मेज़ पर पडी हुई घण्टी बजाई। एक क्षण मे एक सेवक कमरे में घुसा, और समीप आकर अदब से खड़ा हो गया।

कुँअर साहब—बैजू, देखो नहाने का सामान ठीक करो।

आज्ञा पाकर सेवक चला गया। कुँअर साहब अपने स्थान से उठे, एक ताक़ के समीप जाकर उस पर रक्खा हुआ अलबम उठाया, फिर मेरे पास आकर मेरे हाथ मे उसे देते हुए बोले—देखिए, इसमे उन सब स्थानो के चित्र हैं, जहाँ-जहाँ मैं अपनी सफर के दौरान में गया था।

अलबम कुँअर साहब के हाथ से लेकर मै उसे उत्सुकता से उलटने-पलटने लगा। कहीं किसी घाटी का दृश्य था, तो कहीं किसी जल-प्रपात का। कही कोई सुन्दर उद्यान था, कहीं कोई शून्य राज्य-पथ। कहीं किसी शहर की गुञ्जान चौक थी, तो कही नदी के वक्ष पर अस्त होते हुए सूर्य के प्रकाश से आलोकित तट। कही जगद्-विख्यात इमारतें थीं, कहीं ऐतिहासिक खँडहर। कहीं-कहीं उस सुनसान बस्ती के चित्र भी थे जो यात्रा के अन्तस्थान पर बसी हुई हैं।

बडी देर तक मै अलबम के चित्र देखने में व्यस्त रहा। इतने मे उसी सेवक ने आकर कहा—हुज़ूर चलिए, नहाने का सामान ठीक हो गया है।

"अच्छा, चलो।"

अलबम बन्द करके मैंने निकट पडी हुई मेज़ पर रख दिया, और सेवक के साथ हो लिया। कई कमरो और दालानों में होते हुए जब हम एक शृङ्गार-गृह में पहुँचे, तो सेवक ने कहा—हुज़ूर, यहीं कपडे उतारकर तौलिया लपेट ले।

सेवक की उपस्थिति में, कपडे उतारने मे मुझे आपत्ति तो अवश्य थी, किन्तु इस समय उसकी आज्ञा पालन करना ही उचित जान पड़ा। मैं कपड़े उतारकर जब तौलिया लपेट चुका, तो सेवक ने सामने का दरवाज़ा खोलकर कहा—हुज़ूर, अन्दर सब सामान ठीक है। अगर हुज़ूर को किसी चीज़ की ज़रूरत हो, तो हुज़ूर मुझे घण्टी बजाकर आवाज़ दें। मैं बाहर मौजूद रहूँगा। हुज़ूर अन्दर तशरीफ़ ले चलें।

मेरा हृदय गर्व से फूल गया। और, इस समय यदि मेरी नाप ली जाती, तो मुझे पूरा विश्वास है कि मै अपनी साधारण ऊँचाई से कम-से कम दो-तीन अङ्गुल तो अवश्य ऊँचा निकलता। मैंने अकडकर गुसुलखाने मे प्रवेश किया और भीतर से दरवाज़ा बन्द कर लिया। फिर मैंने चारो ओर दृष्टि दौडाई। प्रत्यक्ष मेरी कल्पना से कहीं अधिक सुन्दर था। पालिश की हुई छत और दीवारे, एक कोने मे खडा हुआ मुँह धोने का पात्र, स्नान का टब और फर्श इत्यादि, सभी चीजें शीशे की तरह चमक रही थीं। वहाँ की सफ़ाई-सुथराई और सुव्यवस्था देखकर मै कई क्षण मन्त्र-मुग्ध-सा खडा रहा, फिर बढकर दीवार मे लगे हुए बड़े शीशे के सामने खडा हो गया, और अपनी मुखाकृति का निरीक्षण करने लगा। मेरा हृदय-कमल खिल गया था, और उसकी उद्दीप्त आभा मुख पर व्यक्त थी। आज उस सरल गर्व और उल्लास की बात सोचकर मेरा हृदय लज्जा से भर जाता है, किन्तु उस दिन मुझे ऐसा ज्ञात हो रहा था, मानो मैं एक गगन-चुम्बी शिखर पर बैठा हूँ, और मेरे नेत्र एक स्वर्गीय प्रदेश के धुँधले सीमा-जाल मे उलझे हुए हैं। सहसा मुझे शङ्का हुई कि कहीं मै स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ। अर्द्धचेतना की दशा मे पड़े हुए मनुष्य की भाँति हाथ बढाकर मैंने शीशे को स्पर्श किया। तब मुझे विश्वास हुआ कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ, वह स्वप्न नहीं, प्रत्यक्ष है। फिर मेरा हृदय भय से—एक अज्ञात भय से—काँप उठा।

मेरे जीवन के इतिहास मे उस स्नान का एक विशेष स्थान है। अतएव यदि मै उसका सविस्तर वर्णन करूँ, तो मुझे भय है कि पाठक कहीं ऊब न उठें। इसलिए मै इतना ही कहकर सन्तोष करता हूँ कि जब मै आधा घण्टे के बाद गुसुलख़ाने से बाहर निकला, तो मुझे यह डर खाये जाता था कि कहीं कुँअर साहब भी उसी गुसुलख़ाने मे स्नान करने न आ जायँ। मैने जल्दी-जल्दी कपड़े पहने, सिर के बाल सँवारे, फिर घण्टी बजाई। सेवक तुरन्त हाज़िर हुआ। मैंने कोट की जेब से दो

रुपए निकालकर सेवक की ओर बढ़ाया और गुसुलख़ाने की ओर संकेत करके कहा—"........ठीक कर देना।"

रुपए लेकर सेवक ने झुककर सलाम किया और कहा—हु़जूर इतमीनान रक्खें........हु़जूर खाने के लिए तशरीफ़ ले चलें।

मुझे सेवक के नेत्रों में दया-मिश्रित उपेक्षा दिखाई दी। मैं शर्म से कट गया।

भोजनालय के द्वार तक पहुँचाकर सेवक वापस लौट गया। मैंने कमरे मे प्रवेश किया। कुँअर साहब वहाँ पहले ही से मौजूद थे, मुझे देखते ही बोले—आइए जनाब, आइए। स्नान तो अच्छी तरह कर चुके?

"जी हाँ.....।" मुझे उनकी ओर देखने में कठिनाई हुई। अपने मनोभाव पर परदा डालने का प्रयत्न करते हुए मै एक कुर्सी खींचकर बैठ गया। भाग्यवश इसी समय सेवकों ने हम लोगों के सामने प्लेटें और छुरी-काँटे ला-लाकर सजाना शुरू कर दिया।

कुँअर साहब ने मेज़ पर झुककर मुझसे धीरे से पूछा—आप पीते भी हैं?

मै धर्म-सङ्कट मे पड़ गया, न तो हाँ कह सकता था, न नहीं। दोनों में समान रूप से कठिनाई दिखाई देती थी। अतएव मैंने कूटनीति की शरण ली, बोला—मुझे कोई परहेज़ तो नहीं है, लेकिन........।

निशाना ठीक लगा। कुँअर साहब बीच ही में बोल उठे—अगर बात यह है, तो मै कोई उज़्र न सुनूँगा जनाब!

फिर उन्होंने एक सेवक को संकेत से बुलाया और उससे कुछ धीरे-धीरे कहा। मैने विवशता के भाव से सिर झुका लिया।

थोड़ी देर में उस सेवक ने एक बड़ी बोतल और शीशे के गिलास लाकर मेज़ पर रख दिये।

आज मुझे याद तो नहीं है कि हमने उस समय क्या-क्या और कितना खाया-पिया, लेकिन इतना निःसन्देह कह सकता हूँ कि कुँअर साहब के खाना खिलानेवाले सेवक एक घण्टे तक बराबर प्लेटें ले-लेकर दौड़ते रहे।

मेरे इधर-उधर फिरते हुए नेत्र सामने की दीवार पर लगे हुए एक चित्र पर जम गये। चित्र एक स्त्री का था। मैंने अकसर उससे कहीं अच्छी सूरतें देखी हैं। इसलिए मैं आज तक ठीक-ठीक यह निश्चय नहीं कर पाया कि उसमें ऐसी कौन-सी विलक्षण शक्ति थी, जो मेरी आँखो को, चुम्बक-पत्थर की भाँति, बार-बार अपनी ओर खींचती थी। निर्बोध बालक बार-बार, मना किये जाने पर भी, जैसे चमकती हुई तेज़ छुरी से खेलने के लिए लपकता है, मेरी आँखें भी उसी प्रकार बार-बार, कुँअर साहब की नज़र बचा-बचाकर, चित्र की ओर दौडने लगीं। छुरी खेल की चीज़ नहीं, उसकी संगति उसके लिए हानिकर होगी, इसका बालक को क्या ज्ञान!

मेरे बार-बार मना करने का जब कुछ भी असर न हुआ, तो मैंने आँखो को उन्हीं की मर्ज़ी पर छोड़ दिया। फिर क्या था, आँखें थीं और वह चित्र! शहद की मक्खियाँ जैसे फूल से चिमटती हैं, चींटे जैसे गुड से, उसी प्रकार आँखों ने भी चित्र पर आसन जमा लिया। किन्तु घोडे को उसी की मर्ज़ी पर छोड देने से जैसे सवार को ही कष्ट झेलना पडता है, वैसे ही इस समय मुझे भी दण्ड मिला।

कुँअर साहब ने हँसकर पूछा—इन्हें आप जानते हैं क्या? चोरी पकड़ गई। मैं झेंप गया। "मैं? न—न—हीं तो।"

"अच्छा, आज इनसे आपका परिचय कराऊँगा।"

"यह क्या आपके जान-पहचान की हैं?"

"हाँ, यह मेरी एक मित्र हैं।"

(२)

अपने को सहसा किसी अपरिचित स्थान में पाकर पथिक की जो दशा होती है, मिस लीलावती को अपने सामने पाकर मेरी भी वही दशा हुई। नया स्थान कितना ही सुन्दर क्यों न हो, किन्तु वहाँ के आचार-विचार से अनभिज्ञ होने के कारण हृदय में एक प्रकार की विकलता होती ही है। जब कुँअर साहब हम दोनों को एक दूसरे से परिचित करा चुके,

तो लीलावती ने अपने मोतियों के समान दाँतों की झलक दिखाकर मेरी ओर हाथ बढाया। मैं बौखला गया। लीलावती के मुख की ओर देखते हुए मैं क्षण-भर मूर्तिवत् खडा रह गया। फिर जब मैंने उनसे हाथ मिलाया, तो शायद मेरा हाथ काँप रहा था।

लीलावती ने हँसकर कहा—मैंने शायद आपको कहीं देखा है।

"मुझे ? आपने ? कहाँ......"

लीलावती ने केवल मुस्करा दिया। और, अपनी इस अकारण घबराहट के ज्ञान से मेरी परेशानी अत्यधिक बढ़ गई।

भाग्यवश इसी समय कुँअर साहब लीलावती को प्यानो के पास लिवा ले गये। मै सिगार के सुरसुरों के द्वारा अपनी विकलता दूर करने लगा।

एक क्षण में मिस लीलावती प्यानो के स्टूल पर आसीन थीं।

कुँअर साहब ने बाजे की बत्ती जलाई, और बोर्ड पर एक गाने के पृष्ठ सजा दिये। फिर उन्होंने झुककर लीलावती के कान मे कुछ कहा। लीलावती ने अपनी बड़ी-बडी आँखों में अपार चञ्चलता भरकर कुँअर साहब के मुख की ओर घूरकर देखा। कुँअर साहब शरारत से मुस्कराने लगे। लीलावती की सुकोमल उँगलियाँ बाजे के परदों पर सुव्यवस्थित गति से फिरने लगीं। कुँअर साहब ने समीप की मेज़ पर रक्खा हुआ बेला उठा लिया, स्वर ठीक किया, फिर तारों पर गज़ फेरने लगे। उस मधुर विचारोत्पादक सङ्गीत मे वह आकर्षण-शक्ति थी, जो लताओ और फूलों से सज्जित कुसुम-कुञ्ज मे, तारका-जटित नील गगन में, जन-शून्य नदी-तट की सुखद नीरवता में होती है। सोफे पर मन्त्र मुग्ध-सा बैठा हुआ मैं वह स्वर्गिक सङ्गीत सुनने लगा, जिसमें उस विस्तृत शैल समूह का, उस सुरम्य वन का रहस्यमय सन्देश था, जहाँ मनुष्य के पद-चिह्न न पड़े हों। जब बाजों की विकम्पित ध्वनि रुक गई और मैं सिगार होठों तक ले गया, तो वह बुझ चुका था। कुँअर साहब ने बेला एक ओर रख दिया, और लीलावती की हथेली अपने हाथों में लेकर सतृष्ण होठों

से उस पर एक प्रशंसा सूचक चिह्न अङ्कित कर दिया। शिष्टता के नियमों का तक़ाज़ा था कि मैं भी प्रशंसा के दो-चार शब्द कहूँ, लेकिन मेरी ज़बान न खुल सकी।

कुँअर साहब से जब हम विदा हुए, तो आधी रात बीत चुकी थी। मोटर उडी चली जाती थी। मेरी बग़ल में मिस लीलावती विराजमान थीं। किन्तु इस समय मेरे हृदय में वह झिझक नाम-मात्र को भी न थी, जो सन्ध्या समय उनकी उपस्थिति मे ज्ञात हो रही थी। और इसके लिए मैं मिस लीलावती का ऋणी था।

मैंने निःस्तब्धता भंग करते हुए कहा—मिस लीलावती! आप प्यानो बहुत अच्छा बजाती हैं। अगर स्वरकार चापिन आज उपस्थित होता, तो शायद उसे भी आश्चर्य होता कि मेरे संगीत मे इतनी सम्भावनायें हैं।

कार के भीतर अँधेरा अवश्य था, किन्तु मैंने देखा कि लीलावती का चेहरा गर्व-मिश्रित प्रसन्नता से खिल उठा।

"आपसे मिलकर मुझे बड़ी ख़ुशी हुई। आशा है, बराबर भेंट होती रहेगी। मैं कुँअर साहब से आपके बारे में अकसर सुन चुकी हूँ। क्या आप सवेरे नौ बजे मेरे यहाँ आने की कृपा करेंगे?"

"क्यों नहीं? ज़रूर आऊँगा।"

मिस लीलावती के बँगले मे पहुँचकर मोटर सायबान मे रुकी। मै शीघ्रता से उतर पड़ा और लीलावती का हाथ पकड़कर उन्हें उतारा। इस समय उनके हाथ के स्पर्श में एक विचित्र भाव था—ऐसा भाव था जिसका यथार्थ आशय मैं लेश-मात्र भी न समझ सका; किन्तु उसने मुझे इस तरह आन्दोलित कर दिया, जैसे वायु का हलका-से-हलका झोंका कभी वृक्ष के पत्ते-पत्ते को हिला देता है।

लीलावती ने सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते मेरी ओर मुड़कर देखा और कहा—ज़रूर आइएगा, जनाब। मैं आपका इन्तज़ार करती रहूँगी।

"नहीं, मैं ज़रूर आऊँगा।" मैंने कुछ भर्राई हुई आवाज़ में कहा।

"नमस्कार।"

"नमस्कार।"

मैं खोया हुआ-सा मोटर में जाकर बैठ गया और सोचने लगा—लीलावती की आयु क्या होगी? २५ वर्ष होगी—नहीं, २० वर्ष से अधिक नहीं हो सकती। जान तो १८ ही पडती है। अजीब स्त्री है? सवेरे लीलावती के यहाँ जाऊँ कि न जाऊँ? जाना चाहिए। नहीं, न जाऊँगा। देखा जायगा। कुँअर साहब उस समय वहाँ होगे कि नहीं?

(४)

दूसरे दिन सवेरे जब मेरी आँखें खुलीं, तो आठ बज चुके थे। प्रातःकालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर मैंने हजामत बनाई, स्नान किया और अपना सबसे अच्छा सूट पहनकर घर से निकल पडा। इस समय मैं मिस लीलावती के घर जाने या न जाने के औचित्य पर विचार नहीं कर रहा था; क्योंकि भय था कि निश्चय कही पलट न जाय। केवल एक धुन थी, लीलावती के वहाँ तक ठीक समय पर पहुँच जाना चाहिए।

जब मै लीलावती के बँगले पर पहुँचा, तो नव बजकर पाँच मिनट हो चुके थे। दरबान ने झुककर सलाम किया और मेरा कार्ड लेकर अन्दर चला गया। एक क्षण में लीलावती स्वयं बाहर आईं, और मुझसे हाथ मिलाकर मुस्कराती हुई बोलीं—मैं आपका इन्तज़ार ही कर रही थी।

"मैं भी तो भागा हुआ चला आ रहा हूँ।"

"धन्यवाद!"

"धन्यवाद मुझे देना चाहिए, न कि आपको।"

"वाह! यह तो उलटी बात हुई। आपने मेरे घर आने की कृपा की है। इसलिए कृतज्ञ तो मुझे होना चाहिए!"

"लेकिन अगर कोई ऐसी जगह निमन्त्रित कर दिया जाय, जहाँ पहुँचने की उसे स्वप्न में भी आशा न रही हो, तब?"

"मुझे काँटों में न घसीटिए! मैं हार मानती हूँ। मेरे लिए आप-जैसे चतुर मर्दों से पार पाना कठिन है!"

"अभी आप यह कैसे कह सकती है? चतुर मनुष्य ही तो शीघ्र पराजित होते हैं!"

"आपके मुँह में घी-शकर!"

मुझे अपनी धृष्टता पर लज्जा आ गई। मन-ही-मन खीझ उठा। किन्तु मैंने सबल प्रयत्न किया कि लज्जा का भाव मुख पर व्यक्त न होने पावे। अज्ञात भाव से जब हम कोई ऐसा कार्य कर बैठते हैं, जिसे हम अनुचित समझते हो, तो हमें अपनी विकलता छिपाने के लिए निरन्तर वही 'पार्ट' खेलना पडता है, चाहे हमे कितनी ही नैतिक वेदना क्यो न हो। जब हम सिगरेट पीते होते हैं, और कोई ऐसा व्यक्ति आ पहुँचता है, जिसकी उपस्थिति में धूम्रपान करना हम अनुचित समझते हो, तो क्या सिगरेट फेंक देते हैं? नहीं, ज़ोरो से कश खीचने लगते हैं।

अब हम लीलावती के सुसज्जित ड्राइङ्ग-रूम मे थे। यहाँ का सामान तो उस कोटि का न था, जो कुँअर साहब के यहाँ देखने में आता था, लेकिन यहाँ की सजावट मे जो कोमलता और सुव्यवस्था थी, वह वहाँ न थी। लीलावती ने एक सोफ़े की ओर संकेत करके कहा—बैठिए।

मै सोफ़े पर बैठ गया। इतने मे एक दासी एक थाल में नाश्ते का सामान लेकर आई, और एक मेज़ पर सजाने लगी। लीलावती उसे सहायता देने लगीं। देखते-देखते मेज़ पर एक बडा-सा ढेर लग गया। भाँति-भाँति की केकें थीं, डबल रोटियाँ थीं, मक्खन था, मुरब्बे थे, फल थे, चाय का सामान था। इतना सामान था कि शायद आठ-दस आदमियो की दावत की जा सकती थी। जब सारा सामान मेज़ पर सजा दिया गया, तो लीलावती ने मुस्कराते हुए मुझसे कहा—आइए, जनाब।

"आपने यह कष्ट क्यो किया! मै तो नाश्ता कर चुका हूँ।"

"इसमे कष्ट की क्या बात है, आइए।"

सत्य तो यह है कि अभी तक मैंने नाश्ता नहीं किया था, किन्तु अपनी शिष्टता प्रकट करने के लिए मुझे कृत्रिमता की शरण लेनी पडी। मै विवशता का भाव व्यक्त करता हुआ उठा, और उस मेज़ के समीप जा बैठा। लीलावती मेरे सामने बैठ गईं, और बार-बार आग्रह करके खिलाने लगीं।

चाय का एक प्याला भरकर मेरे सामने खिसकाते हुए लीलावती ने कहा—आप तकल्लुफ़ कर रहे हैं ?

"नहीं, मै तो ख़ूब खा रहा हूँ। तकल्लुफ़ तो आप कर रही हैं। देखिए, आपने अभी तक अपनी केक छुई भी नहीं।"

"वाह ! मैं तो कई काश खा चुकी।"

जब नाश्ता समाप्त हो गया और दासी मेज़ साफ करने लगी, लीलावती अपने स्थान से उठीं और सामने की ताक़ से सिगार का बॉक्स उठा लाईं। बॉक्स को मेरे सामने बढाकर उन्होने कहा—लीजिए।

"मैं यहाँ सिगार पीना मुनासिब नहीं समझता।"

"आप फिर तकल्लुफ करने लगे। इसे भी आपको अपना ही घर समझना चाहिए।"

मैने सकुचते हुए एक सिगार ले लिया। लीलावती ने बॉक्स एक ओर रख दिया, दियासलाई उठाई और एक सलाई जलाकर मेरी ओर बढाई। सिगार जलाते हुए मैने लीलावती के मुख पर दृष्टि डाली। वहाँ इस समय फिर उसी रहस्यमय भाव की झलक दिखाई दी, जिसे मैंने कल अनुभव किया था। मै जल्दी-जल्दी धुएँ के सुरसुरे फेकने लगा। लेकिन इस भाव का मर्म समझने में सिगार मेरी कुछ भी सहायता न कर सका।

मेरे अनुरोध से लीलावती प्यानो बजाने लगीं। वही कलवाली चीज़ थी। फिर वही समा बँध गया, वैसी ही चित्रकारी होने लगी। वही माधुर्य था, वही लालित्य। नहीं, आज का सङ्गीत कल से अधिक उत्तेजना-पूर्ण था। बाजे के समीप एक कुर्सी पर बैठा हुआ मैं विचारों में

खोया हुआ-सा सुन रहा था। सहसा बाजे की सुकोमल ध्वनि रुक गई, और दूसरे ही क्षण फिर उसी सुमधुर स्पर्श का ज्ञान हुआ। वही भाव था! मैंने सिहरकर देखा, लीलावती मेरे कन्धे पर हाथ रक्खे हुए खड़ी मुस्करा रही हैं। किन्तु यह आश्चर्य की बात थी कि उनके मुख पर इस समय उस भाव की छाया न थी।

"आज आपने कल से बहुत अच्छा बजाया।"

"धन्यवाद।"

मेरी इच्छा तो हुई कि मैं भी लीलावती का हाथ चूम लूँ, जैसा कल कुँअर साहब ने किया था; लेकिन साहस ने सहायता न दी।

जब मैं लीलावती के घर से निकलकर कुँअर साहब के बँगले की ओर चला, उस समय उनके विषय मे उससे अधिक नहीं जानता था, जितना कल जान पाया था। कल वह मेरी दृष्टि में एक जटिल पहेली थीं, किन्तु आज उससे कहीं अधिक दुर्बोध प्रतीत होती थीं।

कुँअर साहब अपने दीवानख़ाने मे बैठे हुए एक पत्र लिख रहे थे। मुझे देखते ही बोले—आइए जनाब, आइए, बैठिए।

मैं कुर्सी खींचकर बैठ गया।

"मैंने आपके यहाँ अपना आदमी भेजा था, लेकिन आप घर पर न थे। कहिए, कहाँ से आ रहे हैं।"

"मिस लीलावती के यहाँ से आ रहा हूँ।" मैं कुँअर साहब ने झूठ न बोल सका।

कुँअर साहब ने हँसकर कहा—मेरा भी यही ख़याल था कि आप वहीं होंगे।

मैंने कुँअर साहब की ओर आश्चर्य से देखा।

"मुझे तो ताज्जुब जब होता, अगर आप इस समय कहीं दूसरी जगह गये होते। तो आप पर भी जादू चल गया? हा-हा-हा!"

अपनी झेंप मिटाने के लिए मैं भी हँसने लगा। जब हँसी समाप्त हो गई, तो मैंने कहा—कुँअर साहब, आपसे एक बात पूछूँ?

"पूछिए।" कुँअर साहब के नेत्रों में विनोद नृत्य कर रहा था।

"मिस लीलावती कौन हैं ?"

कुँअर साहब फिर हँस पड़े। थोडी देर के बाद उन्होंने गम्भीर होकर कहा—बाबू मुकुटविहारी! सच तो यह है कि मिस लीलावती के बारे मे मैं भी बहुत कम जानता हूँ। साल भर हुआ एक सिनेमा-हाल मे मेरा इनसे परिचय हुआ था। तब से अब तक मैं सिर्फ इतना जान पाया हूँ कि इनके पिता एक धनी सौदागर थे, और बहुत-सा रुपया छोडकर मरे। इनके ख़ानदान में सिवा इनके कोई और ज़िन्दा नहीं है। न-जाने क्यो यह अपना विवाह नहीं करतीं। देखिए, कभी इनसे इनके बारे में कोई सवाल न कीजिएगा। इन्हे बहुत बुरा लगता है।

मेरा कौतूहल शान्त न हुआ, किन्तु अब मैं और कोई प्रश्न न कर सका। पहेली जैसी की तैसी रह गई।

दूसरे दिन मध्याह्न के समय मेरी आँखें खुलीं। सिर में इस समय भी असह्य पीड़ा थी। रात की सारी घटनायें एक-एक करके मेरी आँखो के सामने फिरने लगीं।.. हाँ, उस समय रङ्गरेलियो का बाज़ार गर्म था। कुँअर साहब मिस लीलावती की कमर में हाथ डाले हुए नाच रहे थे, और मैं बोतल से शराब उँडेलने का प्रयत्न कर रहा था, लेकिन शराब प्याले मे न गिरकर मेज़ पर बह रही थी। किसी-न-किसी तरह प्याला भरा। आधा प्याला ख़ाली करके मै एक सोफे की ओर बढ़ा। मेरे पैर लडखडा रहे थे। मुझे चक्कर आ गया। मैं अपने को सँभाल न सका, गिर पडा, और अचेत हो गया.........फिर मुझे जब होश आया, तो दो बज चुके थे। मैं ड्राइङ्ग-रूम मे एक कोच पर पडा हुआ था। कमरे मे बिजली की एक बत्ती का मन्द प्रकाश फैला हुआ था। मेरे सिर मे असह्य दर्द था, चक्कर पर चक्कर आ रहे थे। ऐसा जान पड़ता था, मानो सिर फट जायगा और आज जीवन का अन्त हो जायगा। मैंने आँखें बन्द कर लीं, किन्तु शान्ति प्राप्त न हुई। तब मुझे अपना झोपड़ा याद आया, जहाँ ऐश्वर्य का वास न था; किन्तु शान्ति

राज्य करती थी और वह वैभव-सम्पन्न कोठी मुझे काटने दौडने लगी। अब मै वहाँ एक क्षण भी न ठहर सका। मैंने जेब से रूमाल निकाला और कसकर सिर मे बाँध लिया। दर्द कुछ कम हो गया। तब मैं झपटकर उठा और शीघ्रता से बाहर निकल गया। बाहर चौकीदार ने टोका—'हुजूर कहाँ जा रहे हैं?" 'भई, घर जा रहा हूँ।' 'इतनी रात ग ये?' 'हाँ, मेरी तबियत अच्छी नही है।' 'तो हुजूर ज़रा ठहर जायँ, मै अभी सवारी लाता हूँ।' 'नहीं, रहने दो, मैं यो ही चला जाऊँगा।' यह कहकर मैं आगे बढा। बात यह थी कि इस समय एक क्षण भी रुकने की मुझमे ताब न थी। गिरते-पडते, उठते-बैठते, किसी-न-किसी तरह मै घर पहुँचा और दरवाजा खटखटाया। बूढे सेवक रामदीन ने उठकर दरवाज़ा खोला। मैंने शीघ्रता से शयनागार मे प्रवेश किया और पलँग पर गिर पडा। एक घण्टा करवटे बदलने के बाद मुझे नीद आई थी।

इस घटना-क्रम पर विचार करते-करते मेरा हृदय लज्जा और आत्म-ग्लानि से भर गया। मेरी दशा पर वे लोग ख़ूब हँसे होंगे। मै कुँअर साहब के घर क्यों गया, मदिरा-पान क्यो किया? कैसा विचार-हीन हूँ! पलँग पर पडे-पडे करवटें बदल-बदलकर मै सोचने लगा—मनुष्य मे सन्तोष क्यो नहीं होता? थोडा पाकर उसे बहुत की इच्छा क्यो होती है?

बूढ़े रामदीन ने कमरे में प्रवेश किया और मेरे हाथ मे एक बन्द लिफाफ़ा देकर कहा—"भैया, सवेरे एक आदमी यह ख़त दे गया था। कह गया था कि जब भैया जगें तो उन्हें दे देना। चलिए नहीं, लीजिए भैया।"

"अच्छा, चलो आता हूँ।"

रामदीन चला गया। मैंने लिफाफा फाड़ा। उसमे यह पत्र था—

"प्रिय मिस्टर मुकुटविहारी,

कृपा करके प्रातःकाल दस बजे मेरे घर आइए। उस समय यहाँ

कुँअर साहब भी आवेंगे। अवश्य आइएगा। मैं आपकी प्रतीक्षा करती रहूँगी। आशा है, आप मुझे निराश न करेंगे।

आपकी—

लीलावती।"

पत्र पढकर मैंने एक ओर फेंक दिया और करवट बदलकर मन मे निश्चय किया—अब वहाँ न जाऊँगा, हरगिज़ न जाऊँगा। फिर यह सोचकर कि लीलावती के घर जाने का समय बीत चुका है, मैं अपने ऊपर हँस पड़ा।

गोधूली का समय था। कोई मुझे लीलावती के घर की ओर खींचे लिये जाता था, इच्छा-शक्ति विवश थी।

मिस लीलावती का बँगला विद्युत्-प्रकाश से जगमगा रहा था। सायबान मे इस समय कोई न था। मै अन्दर घुसा। सहसा किसी के हँसने की आवाज़ आई। बडी तीव्र और कर्कश हँसी थी। मै ठिठक गया।

किसी ने कहा—"लीला! नाराज़ हो गई? मुझे मुआफ करो। अच्छा, तुम्हीं बताओ अगर फूल अपनी सुन्दरता और सुगन्ध से किसी को सन्तुष्ट न करे, तो उसके संसार में आने से क्या लाभ?" यह किसी अपरिचित पुरुष की आवाज़ थी।

"जी हाँ। मै आपकी चालें ख़ूब समझती हूँ! फूल की सुन्दरता और सुगन्ध से लाभ उठाने के बहाने आप चाहते हैं कि उसे तोड ले, और मसलकर फेंक दे!" ये लीलावती थीं।

"हा-हा-हा! भई, उसको तोडकर सावधानी से भी तो रख सकते हैं!"

"जनाब, यह असम्भव है कि फूल-जैसी कोमल चीज़ पर आप-जैसे आदमी हाथ लगाये और उसकी एक पँखड़ी भी न टूटे!"

"हा-हा-हा! हा-हा-हा! आप इतना डरती हैं!"

इस तरह खड़े-खड़े दूसरो की बातें सुनने पर मुझे लज्जा आ गई। मैं शीघ्रता से बाहर निकल आया और सडक की ओर भागा—इस तरह

भागा जैसे कोडे खाकर लद्दू से लद्दू घोडा भागता है। अब लीलावती के विषय मे कुछ अधिक जानने की मुझे इच्छा न थी।

आज मेरा बुखार पूरी तरह उतर गया। कड़ी बीमारी के बाद आवश्यकता होती है कि किसी ऐसे स्थान पर जाकर रहा जाय, जहाँ पूरी तरह स्वस्थ हो जाने की आशा हो। इसी लिए दो घण्टे के बाद पन्द्रह दिन की और छुट्टी लेकर मैं स्टेशन पर कानपुर जानेवाली गाडी की प्रतीक्षा कर रहा था।

गाडी आते ही मैं इण्टर के एक ख़ाली डिब्बे की ओर लपका। असबाब रखाकर मै गद्दीदार बैंच पर बैठ गया, शान्ति की साँस ली, फिर हँस पडा—हाँ, अपनी दशा पर हँस पडा।

उमा

अन्त मे उमा की आँखे खुलीं। स्वार्थ पर चढा हुआ प्रेम का रङ्ग उड गया—क़लई खुल गई। विहारी का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो गया। विवाह हुए अभी छः मास ही व्यतीत हुए थे, किन्तु इसी थोड़े समय मे उसे अपनी भूल ज्ञात होने लगी। न व्यावहारिक प्रेम की कमी थी, न मौखिक, परन्तु यह दाम्पत्य जीवन का सुखद प्रेम न था, नाट्यमञ्च का करुण-अभिनय था—नीरस, शुष्क। विवाह होने से पहले भी यही दशा थी। दोनो अपना-अपना पार्ट जी लगाकर खेलते थे। अभिनय वही था, वही हास-परिहास, वही आमोद-प्रमोद, वही प्रेम-रस मे सनी हुई बातें, किन्तु उसमे और इसमे महान् अन्तर था। उसमे प्रेरणा-शक्ति थी, इसमे केवल मनोरञ्जन की मात्रा। उसमे निष्काम अनुराग भी था, इसमें केवल स्वार्थ ही स्वार्थ। पहले उमा विहारी से खुलकर मिलती थी, लेकिन अब उसके दिल मे भी मैल आ गया था। कृत्रिम प्रेम का अभिप्राय मनोभाव पर परदा डालता था।

उमा दिल ही दिल में कुढती और अपने भाग्य को रोती। उसकी इस दुर्दशा का उत्तरदायित्व केवल उसी पर था। उसके पिता पाश्चात्य सभ्यता के उपासक थे और स्त्री-जाति के जन्म-सिद्ध स्वत्वों के अनुमोदक। वह अपने धनाढय पिता की एकलौती बेटी थी। उसकी माता कभी की मर चुकी थी। उसे पूरी आज़ादी थी। वह जो जी मे आता करती, जहाँ चाहती जाती, जिससे चाहती मिलती। उसने विहारी के साथ अपनी इच्छा से विवाह किया था, पिता की अनुमति केवल नाममात्र को थी। यदि इस भूल का परिणाम केवल उसे ही भुगतना पडता तो कदाचित् इतना दुःख न होता। उसे बडा अफ़सोस इस बात का था कि उसने उस व्यक्ति के साथ अन्याय किया जो सहानुभूति के योग्य था, उसकी अवहेलना की जो उसका सच्चा प्रेमी था।

रतन और विहारी लड़कपन के मित्र थे। दोनो उमा के पडोस मे रहते थे और उसके यहाँ आया-जाया करते थे। दोनो को उमा से प्रेम था। विहारी चञ्चल प्रकृति का था, रतन गम्भीर। विहारी प्रेम दिखाने के सौ-सौ उपाय करता, रतन दिल की बात कहते हुए भी हिचकता, शरमाता, घबराता। रतन का गाम्भीर्य उसके हक़ मे हानिकर सिद्ध हुआ—विहारी बाज़ी मार ले गया। उमा की दृष्टि मे रतन की गम्भीरता उसकी शुष्कता और हृदयहीनता के कारण थी। अतएव रतन यदि कुछ कहना भी चाहता तो वह उसकी बात काट देती या सुनती भी तो बे-मन। लेकिन अब उसे पहले की बातो पर पछतावा होता था।

पश्चात्ताप मे उदारता होती है। उदारता मे आलोचना-शक्ति नहीं होती। उदारता नदी की बाढ है, जो हर चीज़ हृदय मे छिपा लेती लेती है। उदारता के आवेग मे हम दूसरो मे उन गुणो का अनुमान करने लगते हैं जिनके विद्यमान होने या न होने का हमे निश्चय नहीं होता। उमा को रतन अब देव-तुल्य दिखाई देते थे। वह सोचती—कैसा आदर्श जीवन है, कैसा मनोविराग! कैसी सहिष्णुता है, कैसा त्याग! मैंने उनके साथ कैसा अन्याय किया, लेकिन उन्होने कभी शिकायत नहीं की। कोई

और होता तो यो ठण्डे दिल से न सह लेता। बहुत दिनो से नहीं आये। कहीं बीमार तो नहीं पड गये। जाने क्या बात है! पिछली बार जब आये थे, बडे उदास दिखाई देते थे। मैं इसका कारण जानती हूँ। मै ही इस उदासी का कारण हूँ, मैं ही इसे दूर करूँगी। इस निश्चय के बाद उमा ने रतन को एक पत्र लिखा और उन्हे डिनर के लिए निमन्त्रित किया।

सायङ्काल का समय था। रतन घूमने जाने के लिए तैयार हो रहे थे। इसी समय उन्हे उमा का पत्र मिला। उनके आश्चर्य की सीमा न रही। अपने मन मे कहा—यह नई बात कैसी? उमा ने पहले तो कभी ऐसी उदारता नहीं दिखाई थी। उस समय भी जब वह स्वतन्त्र थी और रतन उसके प्रेम में दीवाने बने फिरते थे, उसने कभी ऐसा एक शब्द भी मुख से न निकाला था जिससे रतन के नैराश्यपूर्ण हृदय मे आशा अङ्कुरित होती। फिर इस आकस्मिक कायापलट से रतन को आश्चर्य क्यो न होता? उसने विहारी से विवाह करके रतन की अवहेलना की—उसकी इस अनुदारता से रतन को दुःख होना स्वाभाविक था। किन्तु वे विवश थे, क्या करते! एक बाल्य-काल का मित्र था, दूसरी वह थी जिसके सम्मुख हृदय की बात प्रकट करना साहस का काम था। सिवा चुप रहने के कोई उपाय न था। उमा का विवाह हो जाने के बाद से उनका यह प्रयत्न रहता कि मन का भाव प्रकट न होने पावे। इसी सद्भाव से प्रेरित होकर वे उमा के यहाँ सप्ताह मे दो बार अवश्य जाया करते। परन्तु उनकी कृत्रिम उदासीनता आन्तरिक ज्वाला शान्त करने मे असमर्थ थी। उनके हृदय में घोर सङ्ग्राम छिडा रहता। वे अपनी इच्छाओं और उमङ्गो को कुचल डालना चाहते थे। किन्तु सोने का ढेर सामने पाकर उसकी ओर से मुँह फेर लेना विरले ही का काम है। वह संयम और मनोविराग की अलौकिक अवस्था है, जब मन इच्छाओ की बेडी से मुक्त हो जाता है। रतन के हृदय में ईर्ष्या अङ्कुरित हुई। एक आफत से जान छुडाने गये थे, दूसरी मुसीबत गले पडी। उन्हें अपनी

ग़लती मालूम हुई। उमा के यहाँ जाना क्रमशः कम कर दिया—हफ़्ते में दो बार से हफ्ते मे एक बार, हफ़्ते मे एक बार से पन्द्रह दिन मे एक मर्तबा, और फिर महीने मे एक दफ़ा।

रतन के दिल मे आया कि टाल जायें। बुद्धि ने कहा—जाना ठीक नहीं। ऐसी जगह जाने से क्या फायदा जहाँ सिर-दर्द के सिवा कुछ हाथ न लगे। लेकिन मन कब मानता है! उन्होंने मन मे फिर सोचा, यह अनहोनी बात! यह स्वर्ण-अवसर! उमा का भेजा हुआ निमन्त्रण—जाना चाहिए, सिर-आँखों के बल जाना चाहिए। रतन ने जाना ही निश्चित किया। उनकी दशा उस बालक की-सी थी जो माँ से वादा करता है कि अब किसी चीज़ के लिए ज़िद न करूँगा, लेकिन मिठाईवाले की आवाज़ सुनते ही फिर मचल जाता है।

उमा का सुसज्जित ड्राइङ्ग-रूम विद्युत्-प्रकाश से जगमगा रहा था। वह एक कोच पर पड़ी हुई एक पुस्तक पढ़ने का प्रयत्न कर रही थी, किन्तु पढने मे जी नहीं लगता था। प्रतीक्षा मे चित्त को एकाग्रता कब प्राप्त होती है? उसके नेत्र बारबार द्वार की ओर देखते, निराश होकर लौटते और फिर देखते, कान किसी के पैर की आहट पाने के लिए आतुर थे। इतने मे नौकर ने रतनकुमार के आने की सूचना दी।

उमा ने बढकर मधुर मुस्कान से रतन का स्वागत किया, जैसे अरुणोदय के समय उषा की सौन्दर्य-माधुरी उद्यान के फाटक पर एकान्त-सेवी दर्शक का स्वागत करती है। रतन मन्त्रमुग्ध से हो गये। उमा के शृङ्गार और सौन्दर्य ने उनके साथ वह काम किया जो वाटिका की अनुपम छवि दर्शक के साथ करती है। पूर्व की स्मृतियाँ, बाल्यकाल के सुखद स्वप्न, हृदय की सुप्त आशायें जाग पड़ीं, मानो कवि के मस्तिष्क मे विश्राम करती हुई कल्पना बाल-सूर्य की शीतल रश्मियो से, वसन्ती समीर के मन्द झकोरो से, सुगन्ध की लपटों से जाग गई हो। रतन ने उमा को कितनी ही बार देखा था, रात्रि की अन्धकारमय नीरवता मे कितनी ही बार उसके सौन्दर्य की कल्पना की थी, किन्तु पहले उसमे ऐसी

आकर्षिणी शक्ति नहीं थी। पहले उनको उमा के सौन्दर्य मे रहस्यमय कठोरता दिखाई देती थी, किन्तु आज वह माधुर्य की जीती-जागती तस्वीर थी।

उमा ने मुस्कराकर पूछा—इतने दिनो तक आये क्यो नहीं ?

"अवकाश नहीं मिलता था।"

"बातें न बनाओ। यह क्यो नही कहते कि जी नहीं चाहता था ?"

रतन (झेंपकर)—नहीं, यह बात नहीं थी।

"फिर क्या आपको इतना समय नहीं मिल सकता कि यहाँ आ सकते ? अवकाश तो कोई ऐसी चीज़ नहीं कि न मिल सके।"

रतन—(विषय पलटने के निमित्त) आज विहारी भाई कहाँ है ? दिखाई नहीं देते।

"एक दावत में गये हैं।"

इतने में नौकर ने आकर कहा—खाना तैयार है।

दोनो खाने के कमरे मे चले गये। खाना मेज़ पर लगा दिया गया।

"शुरू कीजिए।"

"आप भी आयें।"

"यह तो नियम के विरुद्ध है। पहले मेहमान की ख़ातिर होनी चाहिए।"

"लेकिन यह भी तो नियम के विरुद्ध है कि मेहमान अकेला छोड दिया जाय।"

उमा निरुत्तर हो गई। रतन की बात माननी ही पडी। खाना शुरू हुआ। खाने के साथ-साथ बातें भी होती जाती थीं। रतन को खाने मे आज तक कभी ऐसा स्वाद न मिला था। एक-एक चीज़ की प्रशसा कर रहे थे। रसोइये ने खीर की दो तश्तरियाँ लाकर रख दीं और कहा—यह हुज़ूर की बनाई हुई चीज़ है। खीर बहुत अच्छी बनी थी, रतन को कोई और चीज़ वैसी स्वादिष्ठ न मालूम हुई। बार-

बार जी चाहता था कि तारीफ करें, किन्तु मुख से एक शब्द भी न निकल सका। कोई और समय होता तो उमा इस चुप का मतलब कुछ और समझती, परन्तु अब उसे मानवस्वभाव का काफ़ी ज्ञान हो चुका था। प्रशंसा के लिए शब्दो की आवश्यकता न थी।

भोजन के उपरान्त दोनो टहलते हुए बाग़ में चले गये। आकाश के नीले परदे से झाँकता हुआ द्वितीया का चन्द्रमा ऐसा जान पडता था, मानो किसी सुन्दरी के नीले घूँघट से उसकी ठुड्डी झाँक रही हो। असख्य तारे साड़ी मे टँके हुए सितारे थे।

उमा ने कहा—वह समय याद है जब हम, बिहारी और तुम घण्टो आकाश की शोभा देखा करते थे?

हृदय से निकली हुई ठण्डी साँस दबाते हुए रतन ने कहा—क्या वे बाते भूल सकती हैं!

"हम सब फूल चुनते और हार गूँथते थे।"

"हाँ, हम जब हार बनाने की कोशिश करते, कभी फूल चुक जाता, कभी धागा टूट जाता—तुम हँस पडतीं। एक बार बडी मेहनत के बाद मैंने और बिहारी ने एक-एक हार तैयार किया और तुम्हे देना चाहा। तुमने बिहारी का ले लिया, मेरा नहीं स्वीकार किया।"

"रतन, वे पुरानी बाते भूल जाओ। मै स्वयं नहीं जानती कि मैंने ऐसा क्यो किया। वह लडकपन का ज़माना था, उस समय मुझमें अच्छे-बुरे की पहिचान नहीं थी।"

इसी समय पास के घण्टाघर ने नौ बजने की सूचना दी। रतन ने कहा—अच्छा, मै अब जाता हूँ।

"फिर कब आओगे? अवकाश मिल जायगा!"

"अब अधिक लज्जित न करो। जब बुला भेजोगी, चला आऊँगा।"

"वादा करते हो?"

"हाँ।"

रतन जब बाहर आये, उन्हे ऐसा मालूम होता था, मानो आकाश मे उड़े जा रहे हैं। अनुकूल जल-वायु पाकर प्रेम का सूखता हुआ पौधा फिर लहलहा उठा।

(२)

कर्तव्य पूरा हो गया, उमा के हृदय का बोझ हट गया। उमा की दशा उस दरिद्र सफेदपोश की सी थी जो अपनी दरिद्रता का ज्ञान विस्मृत करने के निमित्त मदिरा का सेवन करने लगता है। उमा लौटकर ड्राइङ्ग-रूम मे आई और पढ़ने मे मग्न हो गई।

ग्यारह बजे के समय विहारी घर लौटे। विहारी ने पूछा—कोई आया तो नहीं था? उमा ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—रतन आये थे। मैने उन्हे खाने के लिए रोक लिया था।

उमा ने यह बात छिपा ली कि उसने रतन को स्वय निमन्त्रित किया था। उमा और विहारी का वैसा सम्बन्ध नहीं था जिसमे भेद रखने की गुञ्जाइश नहीं थी। वे एक प्राण दो शरीर नही थे। दो शरीर थे, दो प्राण थे, दोनो पृथक्, दोनो भिन्न—पृथ्वी और आकाश का अन्तर!

विहारी के मुख से शराब की बू आ रही थी। उमा को बड़ी घृणा हुई। वह उठकर शयनागार मे चली गई। विहारी वहीं एक कोच पर लेट गये और यह इरादा करते हुए कि अब चलते है, सो गये।

दूसरे दिन उमा ने विहारी को वहीं कोच पर पड़े हुए पाया। आठ बज चुके थे, लेकिन उन्हे अभी होश न था। काग़ज़ के कई पुर्जे विहारी के कोट की जेब मे आधे भीतर आधे बाहर निकले हुए दिखाई देते थे। रोशनदान से आती हुई सूर्य की किरणें उनके मुख पर पड़ रही थी। कुतूहलवश उमा ने पुर्जे बाहर खींच लिये, उलटा-पलटा, पढने की इच्छा हुई। पहला एक होटल का बिल था, दूसरा एक पत्र। पत्र में लिखा था—

प्रिय विहारी बाबू,

मुझे इस बात का बडा दुःख है कि उस दिन तुमसे एकान्त मे मिलने का अवसर न मिला। मुझे आशा है, तुमने बुरा न माना होगा। तुम जानते हो, मुझे तुमसे कितना प्रेम है। पुरानी बाते इस बात का सबूत हैं। अगले शनिवार को अवश्य आना। उस दिन यहाँ कोई न रहेगा।

तुम्हारी

श्यामा।

पत्र लिये हुए उमा अपने शृङ्गार-गृह में चली गई। पत्र फिर पढ़ा—सन्देह दृढ हो गया। उमा की उदासीनता घृणा मे परिणत हो गई।

उमा लौटी कि जाकर पत्र विहारी की जेब मे रख दे, लेकिन वे जाग चुके थे। अतएव उसने पत्र को अपने सन्दूक़ में बन्द कर दिया।

(३)

उमा के लिए वह पत्र वैसा ही था, जैसे मदिरा बेचनेवाले के लिए सरकारी लाइसेन्स। रतन को बुलाना या उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करना पहले उसे अनुचित जान पडता था, किन्तु अनुचित अब उचित हो गया। विहारी के अक्षम्य विश्वासघात के सामने उसका अपना अपराध दब गया। वह सोचती—क्या विश्वासघात का स्वाभाविक उत्तर विश्वासघात नही? उन्होने मुझे धोखा दिया, सब्ज़ बाग़ दिखाया, क्या मै उस व्यक्ति के साथ सहानुभूति भी न प्रकट करूँ जिसके साथ अनुचित व्यवहार करने के कारण आज मुझे ये दिन देखने पडे? यदि वह उचित था तो यह भी उचित है।

पहले जब विहारी अपने दोस्तो की दावतो मे शरीक होने का प्रस्ताव करते, तो उमा उन्हे रोकने का भरसक प्रयत्न करती, किन्तु अब बिना कुछ कहे-सुने सहमत हो जाती। यदि वे आर्थिक सहायता माँगते तो बिना आनाकानी किये दे देती। पहले उसे उनकी अनुपस्थिति से दुःख होता था, अब उनकी उपस्थिति से।

रतन और उमा का सम्बन्ध अब उस दरजे को पहुँच चुका था जब उसे केवल पारस्परिक सहानुभूति कहना सत्य नहीं। एक को दूसरे की सङ्गति अत्यन्त आवश्यक हो गई थी, बिछुडना खल जाता। रतन यदि किसी दिन न आते या आने में देर करते तो उमा व्याकुल हो जाती, शङ्कायें घेरने लगतीं। बार-बार नौकर भेजती और बुलाती। दोनो कभी घूमने निकल जाते, कभी बाइस्कोप देखने जाते और कभी घर ही पर आनन्दोत्सव मनाते।

इसी प्रकार धीरे धीरे दिन बीतने लगे। उमा का सौन्दर्य दिनो दिन निखरता जाता था; शरीर से आभा फूटी पडती थी—होठों पर हर्ष का माधुर्य था, नेत्रों मे यौवन का मद। उसकी दशा उस कोमल पुष्प के समान थी जो बालसूर्य की प्राणपोषक रश्मियो और वसन्ती समीर के मधुर स्पर्श से अधिक कोमल, अधिक प्रफुल्ल और अधिक सुरभित हो जाता है। रतन इस पुष्प पर भौंरे की भाँति रीझे हुए थे।

(४)

विहारी ने जब उमा के साथ विवाह करने का इरादा किया था, तब केवल आर्थिक लाभ का ही विचार न था। उन दिनों उन्हे सुधार की धुन सवार थी। इस अस्वाभाविक काया-पलट का एक-मात्र कारण था धनाभाव। पैतृक सम्पत्ति का विशेषाश रङ्गरेलियों मे उड चुका था, जो शेष था उस पर महाजनो के दाँत लगे हुए थे। ऐसी शोच-नीय दशा मे सिवा आत्म-शुद्धि के उद्धार का क्या उपाय था ? सुधार बिना किसी दूसरे की मदद के आसान काम नहीं। निर्धन की दृष्टि धनवान् पर ही पडती है। हम आत्मिक प्रेरणा अथवा आर्थिक सहा-यता के निमित्त अपने से अच्छी दशावाले का ही मुँह ताकते हैं—यह मानव-स्वभाव है। विहारी की उमा पर नजर पडी। वह मालदार थी—उसके पास दौलत का ख़जाना भी था और रूप का भी। उसका धन उन्हें महाजनो के पञ्जों से मुक्त कर सकता था और उसका सौन्दर्य रूप के बाज़ार के फन्दो से। विहारी ने प्रेम का स्वाँग भरा, जाल

फैलाया—वह फँस गई। लेकिन ख़ज़ाना हाथ लगते ही बिहारी का मन भी बदल गया, जैसे बोतल सामने देखते ही तोबा किये हुए शराबी की तबीयत बदल जाती है। सुधार की प्रेरक आन्तरिक ग्लानि न थी, धनाभाव था। सौन्दर्य का बाज़ार फिर अपनी ओर खींचने लगा।

आकर्षण में स्थिरता नहीं होती। किसी वस्तु का आकर्षण उसकी नवीनता होती है। निरन्तर का सहयोग आकर्षण का घातक है। बालक को अपना खिलौना तभी तक प्रिय होता है जब तक वह नया रहता है। बिहारी पर उमा के सौन्दर्य का प्रभाव अधिक समय तक न रह सका। उसमे वे बाते कहाँ जो बाज़ारू औरतो मे होती हैं—न वह हाव-भाव, न वह कटाक्ष, न वे चुहलें, न वे रसीली बाते। और फिर हृदयहीन, स्वार्थरत भौंरा एक ही फूल का होकर नही रह सकता।

रात को दस बज चुके थे। मिस्टर बिहारीलाल अपने तीन अन्य मित्रो के साथ अलाएन्स होटल से झूमते हुए बाहर निकले।

बिहारीलाल—"भई, आज ख़ूब लुत्फ रहा।"

"हाँ, लेकिन एक बात की कमी थी।"

"किस चीज़ की?"

"कोई साकी न था।"

"हाँ, मज़ा तो तब था जब कोई सुन्दरी पिलाती।"

"यह तो कुछ मुशकिल न था।"

"भई, यह तो बडी चूक हुई।"

"लेकिन यहाँ किसे लाते? यहाँ इतनी आज़ादी नहीं।"

"सच तो यह है कि यह जगह पीने-पिलाने के लिए ठीक नहीं, हर तरह के आदमी आते रहते हैं।"

"इसके लिए पूरा एकान्त चाहिए, कोई बाग़ हो और चाँदनी रात।"

"नहीं, भूलते हो। दरिया का किनारा हो और चाँदनी रात।"

"और कोई सुन्दर पिलानेवाली हो तो फिर एक बार परहेजगारों का भी तोबा टूट जाय।"

विहारीलाल—तो इसमें क्या मुशिकल है, अगले शनिवार को यह भी सही। सहसा विहारीलाल को कुछ ख़याल आया। उन्होंने चौक कर कलाई पर बँधी हुई घडी देखी और कहा—वडी भूल हुई। अच्छा, मै आप लोगो से इजाज़त चाहता हूँ।

"नहीं-नहीं, इस समय कहाँ जाओगे।"

"मुझे वडा ज़रूरी काम है।" यह कहते हुए विहारीलाल अपनी गाडी की ओर वढे। कोचवान ने अदव से गाडी का दरवाज़ा खोल दिया। वावू साहव सवार हुए। गाडी हवा से वातें करने लगी। मित्रो को रोकने का मौका न मिला।

आध घण्टे मे गाडी चौक पहुँची। विहारीलाल उतरे और कोचवान को रुके रहने की ताकीद करके एक गली मे घुस गये। गली में सन्नाटा छाया हुआ था, कुत्ते भी भूँकते-भूँकते थक गये थे और जगह जगह कूडे के ढेरो पर पडे झपकियाँ ले रहे थे, गली अँधेरी थी, लेकिन विहारी इस शीघ्रता और सफाई से चले जा रहे थे, मानो नित्य चलते-चलते उनके पैर गली के एक-एक कङ्कड-पत्थर से परिचित हो गये हो। विहारी एक विशाल भवन के सामने जाकर रुक गये। मकान के नीचे का हिस्सा अँधेरा पडा था, लेकिन ऊपर की खिड़कियों से रोशनी छन-छन-कर सामने के मकान पर पड रही थी। पूर्ण निःस्तब्धता छाई हुई थी—वह विचारोत्पादक नि.स्तब्धता जो गाना रुकने के वाद फैल जाती है। विहारी ने दरवाज़ा खटखटाया, कोई जवाव न मिला, हाँ इसी समय सारङ्गी के तारो से निकला हुआ कोमल मधुर स्वर दिशाओ में गूँज उठा। तवले पर थाप पडी और किसी सुन्दरी के कोमल कण्ठ से निकली हुई दिल खींच लेनेवाला अलाप सारङ्गी के लय से हिल-मिल-कर नृत्य करने लगी। विहारी इस अलाप से भली भाँति परिचित थे। यह श्यामा के कोमल कण्ठ से निकली हुई अलाप थी। यह वह अलाप थी जिसे सुनते ही विहारी आनन्द से विह्वल हो जाते, जी चाहता कि इसे कलेजे में विठा लें और हृदयतन्त्रियों में सदा के लिए बन्द कर ले।

किन्तु आज वही अलाप उनके हृदय मे शूल चुभा रही थी। पहले यही अलाप विहारी के लिए प्रेम और हर्ष का सन्देश होती थी, परन्तु आज यही अलाप श्यामा की बेवफाई की स्पष्ट घोषणा थी। विहारी ने फिर ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाया, लेकिन फिर भी किसी ने जवाब न दिया। उन्हे बडा क्रोध आया। जी तो यही चाहता था कि किसी तरह किवाड खुलवाकर अन्दर जायँ और श्यामा को ख़ूब फटकारे, लेकिन इसमे बद नामी ही बदनामी हाथ रहती। विहारी उलटे पाँव लौटे और सडक की ओर चले। घोर हार्दिक वेदना की दशा मे सोचते चले जाते थे—यह है दुनिया का रङ्ग। जिसके साथ प्रेम करो वही गला काटने को तैयार हो जाता है। यही है श्यामा जिसके प्रेम की कहानियाँ सुनते-सुनते कान पक गये। आज तोते की तरह नज़र फेर ली। मुझे आने मे ज़रा सी देर हो गई, इसने यहाँ यारो को अन्दर दाख़िल कर लिया। इसके लिए मैंने क्या उठा रखा, इसके पीछे मैने क्या नहीं बिगाडा? धन, दौलत, रियासत—सब ख़ाक में मिल गई, लेकिन फिर भी इसका मुँह सीधा न हुआ। महीने मे तीन-चार सौ देता था, फिर भी इसकी फरमाइशे बनी रहती थीं, लेकिन मैने कभी शिकायत नही की। मेरा तो यह बर्ताव और इसकी यह तोताचश्मी। इसी के लिए उमा को धोखा देता हूँ, नित नई-नई चाले खेलता हूँ, रुपये एंठता हूँ और इसके कलेजे मे भरता हूँ। घण्टो घर से ग़ायब रहता हूँ। महीनो बीत गये, आधी रात से पहले कभी घर नहीं गया। प्रायः सारी रात बाहर ही कट जाती है। उमा मन मे क्या सोचती होगी? मन ही मन मे कुढ़ती होगी। यह बड़ी बेजा बात है।

सडक सामने आ गई। कोचवान बैठा ऊँघ रहा था। उसे 'साहब' के इतना शीघ्र लौट आने पर बडा आश्चर्य और दुःख हुआ—ग़रीब की नींद भी पूरी न हो पाई, गाड़ी रवाना हुई और आध घण्टे में बॅगले पर पहुँच गई।

विहारी का विचार था कि उमा ड्राइङ्ग-रूम मे पडी हुई अपनी हालत पर अफसोस करती होगी या सो गई होगी। लेकिन ड्राइङ्ग-रूम

खाली पड़ा था, वहाँ कोई न था। उन्होंने शयनागार मे जाकर देखा, उमा वहाँ भी न थी। एक-एक कमरे मे जाकर देखा—उमा कहीं दिखाई न दी। उन्हे बडा आश्चर्य हुआ।

नौकर बरामदे में पडा सो रहा था, बाबू साहब ने उसे जगाया और पूछा—मालकिन कहाँ हैं ?

"हुज़ूर, कुछ बताया नहीं, कहीं घूमने गई है।"

विहारी का माथा ठनका, सहस्रों शङ्कायें घेरने लगीं—यह क्या माजरा है ? ज़िन्दगी से आजिज़ आकर उसने कहीं जान तो नहीं दे दी ! नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। उमा ऐसी नादान नहीं, उससे ऐसी मूर्खता नहीं हो सकती। फिर, क्या बात है ? आख़िर वह गई कहाँ ! कुछ समझ में नहीं आता। विहारी इसी उलझन मे फँसे हुए एक कोच पर आकर लेट गये। वे इस दशा में दस मिनट रहे होंगे कि उन्हे किसी गाडी के पहियो की आवाज़ सुनाई दी। वे झपटकर बाहर आये।

उमा गाडी से उतर रही थी और एक सफेदपोश महाशय बँगले से बाहर जा रहे थे। विहारी ने उमा से पूछा—कहाँ से आ रही हो ?

"सिनेमा देखने गई थी।"

"और कौन साथ था ?"

"रतन थे।"

"तुमने मुझे नहीं बताया कि सिनेमा देखने जाओगी ?"

"क्या तुम मुझे अपनी सारी बाते बताया करते हो ?"

विहारी निरुत्तर हो गये। आज वे स्वयं अपनी दृष्टि में दोषी थे।

(५)

प्रतिक्रिया आरम्भ हो चुकी थी। विहारी अब विशेषतः घर ही पर रहते थे। उनका हृदय एक बार फिर दाम्पत्य के सरल सुखों के लिए लालायित हो उठा। किन्तु वे जितना प्रेम करने का प्रयत्न करते, उमा उनसे उतना ही दूर भागती। उसे उनसे डर-सा लगता था—उनसे मिलने में आत्मिक वेदना होती थी। अब वह उन्हे अपना शुद्ध विमल

प्रेम नही दे सकती थी। उनका उसके शरीर पर अधिकार अवश्य था, किन्तु उसका स्वतन्त्र हृदय और उसमें बहता हुआ प्रेम का निर्मल स्रोत अब दूसरे का हो चुका था। वह विहारी की ओर से जितना खिँचती, रतन की ओर उतना ही बढती। विहारी देख रहे थे कि वह उनकी ओर से उदासीन हो रही है, परन्तु उनकी समझ मे कोई कारण न आता था।

(६)

यौवन और वासना का अटूट सम्बन्ध है। वासना प्रेम का घातक है, किन्तु प्रेम को वासना के तीव्र आघातो से बचाये रखना बिरले का ही काम है। कौन है जो आत्म-संयम का महत्त्व नही जानता! कौन ऐसा है जो हृदय को वासना की कालिमा से पवित्र रखने का प्रयत्न नही करता! परन्तु, सुन्दरी के भेद-भरे नयनो का एक साधारण कटाक्ष, उसके सरस अधरो की सरल मुस्कान, उसके अञ्चल की एक लहर चित्त को चञ्चल कर देने के लिए बहुत है।

रतन काम के बाणो का वीरता के साथ सामना कर रहे थे, परन्तु एक सशस्त्र सैनिक के तीव्र आघातों का सामना बेचारा निहत्था आदमी कब तक कर सकता है? जानते थे कि हार निकट है, किन्तु वे निरुपाय थे। रतन सोचते—इस प्रेम का कहाँ अन्त होगा! उमा मुझसे प्रेम अवश्य करती है, किन्तु यह प्रेम उसी समय तक है जब तक हमारा सम्बन्ध निष्काम है। यदि मुझसे ज़रा-सी भी असावधानी हुई तो वह मुझसे अवश्य घृणा करने लगेगी। लेकिन मै कितने दिनो तक दामन बचा-बचाकर चलूँगा? मै अपने दिल को अपने वश में नही रख सकता। यदि विहारी को ये बातें मालूम हो गईं तो वे क्या कहेगे! दोस्ती, मुरौवत सबका अन्त हो जायगा और बदनाम भी हो जाऊँगा। मै वहाँ जाता ही क्यो हूँ? अच्छा, आज से कभी न जाऊँगा। परन्तु इस पवित्र सङ्कल्प का उसी समय अन्त हो जाता, जब उमा के यहाँ से बुलावा आता।

उमा के हृदय मे प्रतिशोध की इच्छा प्रबल थी । वह विहारी को दिखा देना चाहती थी कि स्त्री केवल पुरुषों की इच्छाओं की दासी नहीं—उसके अपने भी स्वत्व हैं, अधिकार हैं, इच्छायें हैं। रतन उसकी कार्य-सिद्धि के साधन-मात्र थे। उमा नित्य नया शृङ्गार करती, नये-नये आभूषण पहनती, नई-नई साडियाँ बदलती, रतन को रिझाती और उनका साहस बढ़ाती। इस कार्य मे कहाँ तक इच्छाओं का भाग था और कहाँ तक उस गुप्त प्रेरणा का जो हमे अज्ञातरूप से कार्य-सम्पादन में योग देती है—यह कहना कठिन है। किन्तु इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि उमा मे कार्य-सिद्धि की वह प्रबल कामना थी जो बलिदान के मूल्य की परवा नहीं करती।

फागुन का महीना था, सन्ध्या का समय। ऋतुराज के आगमन के आनन्द में कुसुम-कुञ्ज और पुष्प-उद्यान सौरभ, सौन्दर्य, अलङ्कार और रङ्ग से वैसे ही सजे हुए थे, जैसे परदेश से लौटे हुए पतियो का स्वागत करने के लिए युवती रमणियाँ शृङ्गार करती हैं। उमा और रतन वाटिका में टहल रहे थे। उमा ने गुलाब का एक अधखिला फूल तोडा और रतन के कोट मे लगाने लगी। एक तो सौरभ, रङ्ग और समीर की उत्तेजक शक्ति, और फिर ेमिका के कोमल करो का मधुर स्पर्श—रतन सिहर उठे, बदन में बिजली-सी दौड गई, हृदय की गति तीव्र हो गई। उमा की उँगलियाँ अपना काम पूरा कर चुकी थीं। वह हाथ हटाना ही चाहती थी कि रतन ने विद्युत्-वेग से उमा की कुसुम-कोमल हथेली अपने गर्म हाथों मे ले ली। उमा का मुख आरक्त हो गया, आँखें नीली हो गईं। उसके हृदय में लज्जा अधिक थी या विजयोल्लास—यह कहना कठिन है। इसी समय बँगले में किसी गाड़ी के प्रवेश करने का शब्द हुआ। उमा ने हाथ छुडा लिया और शीघ्रता से वाटिका के बाहर चली गई। गाडी में विहारी आये थे। विहारी ने उमा को वाटिका से निकलते देख लिया। उन्हें कुछ सन्देह हुआ। वे गाडी से उतरते ही बाग़ में गये और रतन को मानसिक विकलता की

मे भूमि की ओर ताकते हुए पाया। रतन को विहारी के आने की ख़बर तक न हुई, वे वैसे ही खडे रहे। विहारी उलटे पैर लौट आये। सन्देह में अङ्कुर फूट पडा। उमा की उदासीनता का कारण स्पष्ट हो गया। विहारी ने सोचा—ये महाशय आज-कल यहाँ क्यो चक्कर काटा करते हैं। पहले तो इतनी कृपा न करते थे। इसमे कुछ न कुछ भेद अवश्य है।

(७)

रतन की इस समय वह दशा थी जो पहली बार शराब पीने पर नशा उतरने के बाद हो जाती है। आत्मिक वेदना भी थी, पश्चात्ताप भी था, मानसिक अशान्ति की दशा मे सोचते थे—उमा ने मन में क्या सोचा होगा? कही मुझे चरित्रहीन न समझने लगे। उसने कुछ कहा नहीं, चुपचाप बाहर चली गई—इसका क्या मतलब है? उसने ज़रूर बुरा माना होगा। मुझसे बडी ग़लती हुई, मुझे उस समय न जाने क्या हो गया था। उमा से आँखें मिलाकर अब कैसे बातें करूँगा? नही, अब मैं वहाँ कभी न जाऊँगा। रतन इसी उलझन मे बडी रात तक जागते रहे। अन्त मे निद्रादेवी को उनकी शोचनीय दशा पर दया आ गई।

रतन ने उमा के यहाँ न जाने का आज पहली ही बार सङ्कल्प न किया था। उनके इस प्रकार के इरादो का मूल्य सिद्ध हो चुका था। वे इस बात से स्वयं लज्जित थे।

वाटिकावाली घटना को कई दिन बीत गये। रतन ने अभूतपूर्व दृढ़ता दिखाई—सङ्कल्प मे शिथिलता न आने दी। इस बीच में उमा के पास से कोई बुलावा न आया। रतन का यह सन्देह कि उमा मुझ पर नाराज़ है, ज़ोर पकड़ता जाता था। उनकी मानसिक अशान्ति बहुत कुछ घट गई थी। उन्हे थोड़ा-बहुत दुःख अवश्य था, किन्तु वे मन को इस प्रकार समझाते—चलो अच्छा हुआ, बला से जान छूटी। अब बात छिपी रह जायगी। मुझे अपनी भूल भी मालूम हो गई, नहीं तो

न जाने कब तक धोखे में रहता—साधारण सहानुभूति को प्रेम समझ बैठा, कितनी बड़ी नादानी थी।

एक दिन सन्ध्या-समय वायुसेवन के बाद रतन जब होस्टेल लौटे तब उन्हे अपने कमरे में एक बन्द लिफाफ़ा पड़ा मिला। रतन ने लिफाफा उठाकर देखा, हस्त-लिपि उमा की थी। रतन का हृदय वेग से धडकने लगा। काँपते हुए हाथो से लिफाफा खोला। पत्र में लिखा था—

'प्रिय रतन,

आज पाँच दिन हो गये। तुमने सूरत नहीं दिखाई। क्या मुझसे नाराज़ हो? बडी प्रतीक्षा कराते हो? परन्तु इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं, दोष मेरा है कि प्रेम के हाथों ऐसी बिक गई। अब कब आओगे? आज सन्ध्या-समय अवश्य आना। मैं तुम्हारा इन्तज़ार करूँगी।

दर्शनाभिलाषी,
उमा।'

पत्र देखकर रतन को बडा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा था कि उमा ने खूब खरी-खोटी सुनाई होगी, लेकिन यहाँ तो पाँसा ही पलटा हुआ था। रतन के हृदय सागर में आनन्द की लहरें उठने लगीं। आज पहला ही अवसर था कि उमा ने स्पष्ट शब्दो मे अपने मन की बात कही। आज उन्हे प्रत्येक वस्तु मे सुन्दरता दिखाई देती थी। प्रत्येक वस्तु मे स्वाभाविक सहानुभूति। नीरव गगन में वसन्त की मधुर श्री फूटी पडती थी, कुसुम-कुञ्जो से आती हुई समीर सुगन्ध से लदी हुई थी, सामने वृक्ष पर चहकती हुई छोटी-छोटी चिड़ियो के सुमधुर कलरव मे प्रेम के राग थे।

रतन चाहते तो थे कि न जायँ, किन्तु कोई प्रबल प्रेरणा उन्हे उमा के घर की ओर बलात् खींचे लिये जाती थी, पैर स्वयं चले जाते थे। इच्छा-शक्ति विवश थी।

उमा ने मुस्कराकर उत्तर दिया—और मेरे भी।

अपने भाग्य को धन्यवाद दूँ या इन प्यारे हाथो को, यह कहते हुए रतन ने उमा की कोमल हथेली अपने जलते हुए हाथों में ले ली और तप्त अधरों से उस पर प्रेम का प्रथम चिह्न अङ्कित कर दिया।

विहारी को अब अधिक प्रमाण की आवश्यकता न थी। वे अब ज्यादा न देख सके, झपटे और क्रोध एवं घृणा की मूर्ति बने हुए उन दोनो के सामने जाकर खड़े हो गये। उमा और रतन क्षण भर तक हतबुद्धि-से ताकते रहे। आश्चर्य और क्षुद्रता मूर्तिमान हो गई थी। उमा सँभली और चुपचाप वाटिका से बाहर चली गई। रतन ने भी जाना चाहा, किन्तु विहारी ने व्यङ्गय-वाक्य से रोककर कहा—जाते कहाँ हैं, महोदय? ठहरिए, मेरी भी सुनते जाइए।

रतन अपराधी बालक के सदृश ठिठककर रह गये।

विहारी ने घृणा-मिश्रित क्रोध से कहा—रतन, क्या दोस्ती और मुरौवत का बदला यही रह गया है? किसी दुश्मन के गले पर छुरी चलाते तो मरदानगी होती, यह क्या कि दोस्त ही का गला काटो।

रतन कोई उत्तर न दे सके। विहारी का क्रोध दुगना हो गया, नेत्रो से ज्वाला निकलने लगी।

"बोलो, क्या जवाब देते हो? बोलो, नहीं तो इसी पिस्तौल से अपना और तुम्हारा दोनों का भेजा उडा दूँगा।" विहारी ने पतलून की जेब मे एक रिवाल्वर निकाल लिया।

रतन का हृदय भय से काँप उठा। बचने का कोई मार्ग दिखाई न दिया। सहसा उन्हे एक उपाय सूझा। उन्होंने जेब से एक काग़ज निकाला। यह उमा का पत्र था। रतन ने विहारी को पत्र देकर कहा—"विहारी, इसमें मेरा ही क़सूर नहीं। यह ख़त इस बात का सबूत है।"

विहारी ने पत्र ले लिया और दियासलाई जलाकर उसके प्रकाश मे पढ़ा। विहारी का विचार था कि सारा अपराध रतन का है, लेकिन

पत्र से बात कुछ और हुई। विहारी पत्र लिये हुए बाग़ से बाहर चले गये।

रतन वही मूर्तिवत् खड़े रह गये। आवेश में आकर उन्होने पत्र दे तो दिया, परन्तु क्षण भर मे अपनी भूल ज्ञात हो गई। उनका हृदय खेद और ग्लानि से भर गया। लज्जा से कटे जाते थे—कैसी घोर नीचता है! कैसी अक्षम्य कायरता! प्रेमिका के पत्र को, जिसका मूल्य प्राणो से अधिक होना चाहिए, प्राणरक्षा का यन्त्र बनाना—इससे घृणित कौन-सी कायरता हो सकती है। यदि प्राण देकर भी रतन को पत्र वापस मिल सकता, तो उन्हे उसे लेने मे तनिक भी सङ्कोच न होता। किन्तु यह वैसा ही कठिन था, जैसे मुख से निकली हुई बात या कमान से निकले हुए तीर का वापस लौटना।

(९)

उमा खेद और दुःख की मूर्ति बनी हुई बैठी थी—खेद इस आकस्मिक घटना पर था, दुःख भण्डा फूट जाने का। विहारी ने कमरे मे प्रवेश किया। उनके मुख पर वह गाम्भीर्य था जो क्रोध और घृणा की अन्तिम सीमा है। विहारी ने उमा के सामने उसका प्रेम-पत्र फेंक दिया, किन्तु मुख से कुछ न कह सके। उमा पर वज्रपात-सा हुआ। उसके लिए वह पत्र वैसे ही था, जैसे अभियुक्त के लिए अदालत का फ़ैसला। उमा हतबुद्धि-सी मूर्तिवत् बैठी रही।

उमा की ख़ामोशी ने विहारी की ज़बान खोल दी—उमा, मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी। मुझे स्वप्न मे भी यह आशङ्का न थी कि तुम इतना नीचे गिर जाओगी। ऐसा छिछोरापन! मेरे विश्वास का यो मटियामेट!

उमा अब अधिक न सुन सकी। अपराधी मनुष्य साधुचरित्र आदमी की कडी से कडी बात सुन सकता है, किन्तु उस मनुष्य का साधारण आक्षेप भी असह्य हो जाता है जिसके चरित्र के विषय मे उसे स्वयं सन्देह हो। उमा को केवल सन्देह ही नही था, उसके पास प्रमाण भी था। फिर वह विहारी की बातें कैसे सह लेती? प्रतिघात की मात्रा प्रबल हो गई। उमा

का अङ्ग-अङ्ग फडकने लगा। उसकी दशा छेडी हुई सिंहिनी के समान हो गई। उमा ने विहारी को सरोष नेत्रो से देखकर उत्तर दिया—लेकिन इसकी सारी ज़िम्मेदारी तुम्हारे ऊपर है। क्या तुमने प्रेम का स्वाँग भरकर मुझे जाल में नहीं फँसाया? मेरी आशाओ का ख़ून नहीं किया? तुम्हे मुझसे नहीं, मेरे धन से प्रेम था।

"यह सरासर झूठा आक्षेप है। मेरा प्रेम सत्य था और मै उस पर अब से घण्टे भर पहले तक दृढ़ रहा हूँ। लेकिन अब मेरी आँखों का परदा उठ गया।"

"झूठ नही, बिलकुल सच है, तुमने मेरे साथ विश्वासघात किया। बाज़ारू औरतो के पीछे दौडते फिरे।"

विहारी ने कृत्रिम क्रोध से कहा—उमा, अब मैं ज्यादा सहन नहीं कर सकता। अपनी करतूतो पर परदा डालने के लिए मुझ पर मिथ्या आक्षेप करती हो!

"यह बात झूठी नहीं है, मेरे पास इसका सबूत है।" यह कहकर उमा उठी और अपने शृंगारगृह मे चली गई। सन्दूक़ खोलकर एक पत्र निकाला। यह श्यामा का वही पत्र था जिसे उमा ने विहारी की जेब से निकाल लिया था। उमा ने पत्र लाकर विहारी के सामने फेंक दिया। विहारी ने पत्र उठाकर पढा और उमा की ओर आश्चर्यपूर्ण नेत्रो से देखा। वे निरुत्तर हो गये, अधिक कुछ न कह सके। उमा उठकर बाहर चली गई। उसके नेत्रों मे विजय-गर्व था।

उमा जीती अवश्य, किन्तु उसके हृदय में विजय का आह्लाद न था, पराजय की दारुण-वेदना थी। सजग आत्मा हृदय मे चुटकियाँ ले रही थी। अधिकारों की रक्षा के लिए चरित्र का बलिदान! आज वह स्वयं अपनी दृष्टि मे गिर गई। वह धन और वैभव की गोद में पली थी, प्रेम और स्नेह उसके जीवन का आधार था। आज वह प्रेम के लिए किसका मुँह ताके—पुरुष-समाज का, जो आज उसे धूर्तों एवं कायरों से भरा दिखाई देता था। अब वह जीवित रहे तो किसके बल पर? उसे

अपना अस्तित्व शून्य एवं निरर्थक जान पडता था। उमा अभिमानिनी थी। जब वह अपने शृंगार-गृह में जाकर शीशे के सामने खडी होती और अपनी सुन्दरता अवलोकन करती तब उसके नेत्रो मे गर्व का मद छा जाता, हृदय मे विजय-कामना हिलोरें लेने लगतीं। आज उसने शीशे के सामने खडे होकर अपने एक-एक अङ्ग को ध्यान से देखा, किन्तु आज वह आनन्द, वह उल्लास न प्राप्त हुआ। उसे अपने सौन्दर्य से भी घृणा हो गई।

(१०)

विहारी का क्रोध अब बिलकुल शान्त हो गया था। वे वाटिका मे बैठे हुए घटनाक्रम पर निष्पक्ष होकर विचार कर रहे थे। उमा के ये शब्द कि 'इसकी सारी ज़िम्मेदारी तुम्हारे ऊपर है,' अभी तक उनके कानों मे गूँज रहे थे। वे ज्यो-ज्यो विचार करते, उन्हे अपना ही दोष दिखाई देता—यदि मै श्यामा के कृत्रिम प्रेम मे न फँसता तो आज यह दिन क्यो देखना पड़ता?, यद्यपि मैने स्वार्थवश उमा से विवाह किया था, किन्तु उमा मुझसे प्रेम करती थी—यदि वह मुझसे प्रेम न करती होती तो रतन को छोड़कर मुझसे विवाह ही क्यो करती? मेरे हृदय में शनैः-शनैः प्रेम अकुरित हुआ—हाँ, यह निरन्तर सहवास के कारण अवश्य था। हम दोनो एक दूसरे के साथ सुखी थे। परन्तु मैने स्वयं अपने पैरो मे कुल्हाडी मारी। उमा के प्रेम की अवहेलना की। ऐसी दशा में मुझसे उसके मन का फिर जाना स्वाभाविक ही था। यह मानव-स्वभाव है, इसमें उमा का दोष नहीं। सारा उत्तरदायित्व मुझ पर ही है। जब सारा दोष मेरा ही है तब मुझे उमा से नाराज़ होने का कोई हक़ नही। अब क्या करूँ? उमा से मेल कर लेना चाहिए।

इस निश्चय के बाद विहारी उठकर भीतर गये। ड्राइंग-रूम मे दीवार पर लगी हुई घडी मे डेढ़ बजे थे। विहारी ने सोचा, उमा सो रही होगी। वे शयनागार की ओर गये। धीरे से दरवाज़ा खोला और भीतर प्रवेश किया। मेज़ पर जलती हुई मोमबत्ती ऐसी जान पडती थी

मानो किसी क़बर पर जलता हुआ चिराग़ आँसू बहा रहा हो। उमा पलँग पर पडी हुई थी। ऐसा जान पडता था, मानो कमरे मे फैला हुआ प्रकाश उसके लावण्य का प्रकाश है। विहारी धीरे-धीरे आगे बढे। वे झुके और उमा के बन्द नेत्रो पर क्षमा और प्रेम का चिह्न अङ्कित कर दिया। परन्तु सहसा वे चौंक पडे और उमा के मुख की ओर ध्यान से देखने लगे। कलाई पर हाथ रक्खा, नब्ज़ का कही पता न था। हृदय पर हाथ रक्खा, गति स्थगित हो चुकी थी। चिराग़ बुझ चुका था, यात्रा समाप्त हो चुकी थी। उमा का निर्जीव शरीर मृत्यु-शय्या पर पडा था। फर्श पर एक ख़ाली शीशी पडी थी, जिस पर अँगरेज़ी अक्षरों मे लिखा था—"विष।" विहारी के मुख से एक चीख निकल गई। वे लाश से लिपट गये। विहारी के प्रेमाश्रु से भीगा हुआ उमा का आभाहीन मुख ऐसा जान पडता था, मानो अरुणोदय के समय ओस मे नहाया हुआ कोमल पुष्प हो।

आराधना

निरन्तर पन्द्रह वर्ष देवीदीन सडक के किनारे पीपल के छतनार वृक्ष के नीचे खोचा लगाता था। ज़माना बदल गया—कितनी ही गगन-चुम्बी अट्टालिकाये धराशायी हो गईं, कितने झोपडे महल बन गये, कितने ही ऐश्वर्यशाली निर्धन हो गये, कितने दरिद्र धनवान्। किन्तु विश्व के परिवर्तनशील विधान में देवी का आज भी वही स्थान था, जो पन्द्रह वर्ष पूर्व था। सवेरे से शाम तक अब भी वह खोचे से वैसे ही मक्खियाँ उडाता रहता था जैसे पहले। उसके दुर्बल शरीर पर आज भी वैसी ही मैली धोती, वैसी ही मैली मिरजई थी, जैसी पहले दिखाई देती थी। हाँ, एक मुद्दत से बराबर जल मे पडी रहने के कारण नाव पुरानी अवश्य

हो चली थी। उसकी उम्र ढल रही थी—आँखो की रोशनी घट चली थी, चेहरे पर झुर्रियाँ पड गई थी, सिर और मूँछो की स्याही में सफ़ेदी दिखाई देने लगी थी। मुहल्ले की कर्महीन दार्शनिक-मण्डली ने अक्सर देवीदीन को वाद-विवाद का विषय बनाया, किन्तु यह न तय कर पाई कि उसके अस्तित्व का क्या अभिप्राय है।

दिन का तीसरा पहर था। बाज़ार मे आलस्य छाया हुआ था। बैठे, लेटे या ऊँघते हुए दूकानदार आतुर प्रेमिकाओ की भाँति प्रेमी ग्राहकों की बाट देख रहे थे। देवी घर से भोजन करके लौटा, बैठने के स्थान पर लगे हुए ढेर के ऊपर का टाट हटाया, ढेर की चीजें इधर-उधर सजाकर रखीं, फिर टाट बिछाकर बैठ गया, खोचे के ऊपर की चादर हटाई और ताड की एक टूटी पंखी लेकर मक्खियाँ उड़ाने लगा। इस 'खट-पट' से बिन्दा महाजन की आती हुई नींद उचट गई। बिंदा ने करवट बदलकर कहा—'आ गये क्या, देवी?'

"हाँ, दादा।"

महाजन का कर्तव्य पूरा हो गया (खोचे को इसी की देखरेख मे छोडकर देवीदीन भोजन करने जाता था)। बिंदा ने फिर करवट ली, आँखें बन्द की और रूठी हुई निद्रा-देवी को मनाने लगा।

ग़रीब पंखी उस चन्द्राकार मार्ग मे अपनी बूढी हड्डियाँ घसीटने लगी। इस प्रकार केवल दस मिनट बीते होगे कि उसकी गति मन्द होने लगी, शासक को आलस्य घेरने लगा। देवीदीन का हाथ रुक गया, आँखें स्वयं बन्द हो गईं, खूटियो से ढकी हुई ठुड्डी सीने से मिलने के लिए आतुर हो उठी। शत्रु को बेख़बर पाते ही मक्खियो की असंख्य सेना ने चारो ओर से आक्रमण कर दिया।

हाथ अपने काम मे अभ्यस्त थे। अक्सर देवीदीन लोगो से बाते किया करता था, बाजार के दृश्य देखा करता था, पर उसके हाथ, खोंचे मे किसी प्रकार की गडबडी किये बिना, पंखी चलाते रहते। लेकिन नींद के सामने किसकी चलती है!

सहसा एक ओर शोर गुल होने लगा। देवी ने चौंककर पंखी चलाते हुए देखा—जोखू चार-पाँच उपले लिये भागा जा रहा है, पाँच-सात आदमी ठट्ठा कर हँस रहे हैं, और एक उपली बेचनेवाली दोनो हाथो से सिर का बोझ सँभाले हुए गालियाँ दे रही है। देवी हँसता हुआ प्रशंसा-सूचक दृष्टि से जोखू की ओर देखने लगा। देवी को जोखू के साहस पर क्यो न प्रसन्नता होती? क्या जवानी मे उसने भी ऐसे ही उत्पात नहीं किये? और, फिर होली मे क्या नही माफ होता? आज उसे उस समय की बाते याद आने लगी, जब उसके शरीर मे भी बल था, जब उसके रक्त में भी यौवन की स्फूर्ति थी, जब होली में लकडी इकठा करने के लिए हमजोलियो के साथ सारी रात गलियो मे चक्कर काटा करता था, जब उसके ऊपर भी आदर, सम्मान एवं प्रशंसा की पुष्प-वर्षा होती थी। एक बार जब वे सब एक खेत मे एक पेड काट रहे थे, किसान जग पडा और लाठी सँभालता हुआ इन लोगो का पीछा किया। अधकटा पेड छोडकर वे सब जान लेकर भागे थे। समय की अनन्त सीमा लाँघकर उसे आज भी उन सबो की हाँफ स्पष्ट सुनाई देती थी। आज वे साथी कहाँ हैं? वह समय कहाँ है? वह बल कहाँ है? वह पौरुष कहाँ है?

झगड़े का शीघ्र निपटारा हो गया, क्योकि उपली बेचनेवाली होली के इस चक्रव्यूह में अपने को अकेली पाकर सामने की गली मे गायब हो गई। स्मृति निद्रा का रूप धारण कर रही थी, झपकियो के हमले शुरू हो गये थे, इसी समय बग़ल की गली से एक अधेड़ स्त्री पैरों के झाँझ से 'छुम-छुम' करती हुई बाहर निकली। देवी ने फिर चौककर मक्खियाँ उडाते हुए सिर उठाया। उसका मुख प्रसन्नता से खिल उठा। देवी ने मुसकिराते हुए पुकारा—"भौजी, ओ भौजी!"

उस स्त्री ने देवी की ओर मुडकर देखा, फिर वह मुसकिराते हुए समीप गई। "क्यों भौजी, होली के ज़माने में ऐसे नज़र बचाकर निकल जाना चाहिए!" दुलारी मन्दिर की सीढी पर देवीदीन के

समीप बैठकर बोली—"नहीं, लाला, यह भी कोई बात है। ज़रा जल्दी मे थी, इस कारण तुम्हे देख नहीं पाई।"

"नही, अब हमे क्यों देखोगी? बुढाई में सब साथ छोड देते हैं। अब हममे वह बात कहाँ है?"

"तुम अपने को जो चाहो समझो, हमारे हिसाब तो तुम वही हो।"

"क्यो बात बनाती हो?"

"गङ्गा-क़सम, लाला। झूठ नहीं कहती।"

"अरे-अरे, क़सम खाने की क्या ज़रूरत! क्या हमे विश्वास नहीं है?"

दोनों एक क्षण चुप रहे, फिर देवीदीन ने मुसकिराकर पूछा—"यह सज के कहाँ जाती हो?"

"एक जग्घा गवनई है, वहीं जाना है। अब जाने दो लाला, देर हो जायगी।"

दुलारी उठ खडी हुई।

"अच्छा, एक बात तो बताये जाव। अबकी तो हमसे होरी खेलोगी न?"

"काहे नही? ज़रूर—ज़रूर।" दुलारी चली गई। इतने में दो-तीन छोटे-छोटे लडके गुड के सेव और पपडी ख़रीदने आ गये। देवीदीन तराज़ू उठाकर तौल मे अपनी कला-निपुणता और सफ़ाई दिखाने लगा।

आध घण्टे के बाद बिन्दा महाजन की स्त्री चद्दर ओढे अपनी दूकान से उतरी। देवीदीन ने पूछा—"कहाँ जाती हो, चाची?"

"कहीं नही बेटा। बहिन की बिटिया ससुराल से आई भई है—ज़रा भेंट-मुलाकात कर आऊँ।" रामरती ने देवीदीन की ओर ध्यान से देखकर कहा।

देवीदीन का कौतूहल अभी दूसरा प्रश्न करने ही जा रहा था कि रामरती आगे बढ़ गई। ज़बान पर आई हुई बात लौट गई।

(२)

रामरती उन अमूल्य स्त्री-रत्नो मे थी जिनके हृदय असाधारण मातृ-वात्सल्य से परिपूर्ण होते हैं, जिनकी गोदें सारे संसार को अपनाने के लिए खुली रहती है, जो दूसरो के दुःख मे दुखी होती है, दूसरों की पीडा मे पीडित। उनमे स्वार्थ से परमार्थ प्रबल होता है, अपनों की अपेक्षा दूसरो की चिन्ता अधिक होती है। अन्याय ऐसी स्त्रियो से सहा नहीं जाता—चाहे वह उन पर किया जाय या दूसरो पर। दूसरो के लडको को बिगडते देखकर उन कर्मनिष्ठा रमणियों को वैसा ही दुःख होता है, जैसा अपने बच्चो को कुराह चलते देखकर होना स्वाभाविक है। किन्तु उनकी अलभ्य कर्मण्यता उनकी सरल बुद्धि से अनुचित लाभ उठाती है। उनकी स्वाभाविक पर-चिन्ता लाभदायक अधिक होती है अथवा हानिकर, यह सन्देहात्मक है। ईश्वर उन्हे सब कुछ देता है, पर विनोद की निआमत से वञ्चित रखता है।

रामरती का यो कुसमय निकलना इस बात का प्रमाण था कि वह किसी-न-किसी आवश्यक काम से जा रही है, क्योकि वह अपने सुदृढ गढ से यों सहज मे निकलनेवाली न थी। दूसरो को अकारण इधर-उधर आते-जाते देखकर उसे घोर हार्दिक दुःख होता था, यद्यपि वह प्रायः नित्य अपने दस-पाँच कृपापात्रो के घर गये बिना किसी तरह न रह सकती थी। उसकी इस कृपा से उसके कृपापात्र प्रसन्न होते थे अथवा अप्रसन्न—यह भी सन्देहात्मक ही है। परोपकारी उपकार करता है, उसे लाभ-हानि के बखेड़े से क्या प्रयोजन?

सामने की गली मे थोडी दूर चलकर रामरती ने एक बाड़े मे प्रवेश किया। उस बाड़े मे, जो हेमन्त के असह्य शीत में, ग्रीष्म की कडी धूप मे, वर्षा के तूफ़ान मे थोड़े से धन-हीन लोगो का एकमात्र आश्रय था। किन्तु यहाँ ग़रीब ही नहीं मुद्रा-देव के वे उपासक भी रहते थे, जिन्हे ग़रीब बने रहने मे ही सुभीता होता है। बाड़े के बीच में थोडी-सी खुली हुई जगह थी और किनारे-किनारे दस-पन्द्रह कोठरियाँ बनी हुई थीं। एक-

एक कोठरी मे एक पूरा ख़ानदान गुज़र-बसर कर लेता था। ऐसी ही एक कोठरी के सामने देवीदीन की स्त्री, सुन्दरी, बर्तन माँज रही थी। रामरती को देखते ही सुन्दरी बोली—"आओ, चाची, आओ बहुत दिनो मे फेरा किया।"

"हाँ, क्या करूँ दुलहिन, काम-धन्धे के मारे छुट्टी बहुत कम मिलती है।"

सुन्दरी ने जल्दी-जल्दी एक पीढ़ा धोया, उसे अचल से सुखाया और रामरती के सामने रखकर बोली—"बैठो चाची।"

पीढ़े पर बैठकर रामरती ने कहा—"कैसा जी है, दुलहिन, दुबली दिखाई पडती हो?"

"हाँ, जी तो अच्छा नही है। पाँच-सात दिन से ज़ुकाम हो गया है। सिर मे दर्द भी रहता है।" दोनो हाथो मे अंचल के खूंट पकडे हुए सुन्दरी ने रामरती के पैर छुए।

"ख़ुश रहो। कुछ उदास भी दिखाई देती हो। क्या बात है?"

"और कोई बात तो नही है। बस, ज़ी ख़राब है।" सुन्दरी ने थाली मलते हुए उत्तर दिया।

"मै डरी थी कि कहीं भैया से झगडा तो नहीं हो गया। आजकल कैसा व्यवहार करते है, कुछ कहते-सुनते तो नहीं?"

"नही, चाची, ऐसी तो कोई बात नहीं है।" सुन्दरी ने सिर नीचा करके कहा।

"नहीं बिटिया, देवी का रंग-ढंग तो आजकल ठीक नहीं दिखाई देता।"

हाथ का मँजना सामने रखकर सुन्दरी रामरती के मुख की ओर आश्चर्य से देखने लगी। वह रामरती का मतलब कुछ न समझ सकी।

रामरती ने सिर हिलाते हुए कहा—"देवी को मै इतने दिनों से जानती हूँ, उसे कभी कुराह चलते नहीं देखा था। मुदा, अब लच्छन अच्छे नही दिखाई देते।"

सुन्दरी अवाक् थी, उसका हृदय ज़ोर-ज़ोर से धडक रहा था।

"दुलहिन, दुलारी को जानती हो? वही कुलच्छनी जिसने अपना सरबस बोर दिया, इज्ज़त गँवा दी। आज भैया उससे हँस-हँसकर बाते कर रहे थे। बडी देर तक दोनो न जाने क्या फुस फुस करते रहे। जब वह चलने लगी तो भैया ने उसे एक दोना मिठाई दी। बिटिया, मुझे तो पूरा शक है कि उन दोनो मे कुछ साँठ-गाँठ है।"

सुन्दरी पर वज्र गिरा। बर्तन जैसा-का-तैसा छोडकर वह उठी और रामरती के पैरों से लिपटकर फूट-फूटकर रोने लगी। सुन्दरी का सिर उठाकर अपने आँचल से आँसू पोछते हुए रामरती ने कहा—"रोओ न, दुलहिन! तुम अपना भला-बुरा खुद समझ सकती हो। तुम्हे जता देना मेरा धरम था। मैंने अपना करतब समझा—जता दिया।"

सुन्दरी के आँसू फिर उमडने लगे। आँचल में मुँह छिपाकर वह विलाप करने लगी—"हाय राम! मै क्या करूँ? मै इनको ऐसा नहीं समझती थी। हाय! मै तो कही की न रही। तभी इतनी रात तक ग़ायब रहते है।"

रामरती फिर समझाने लगी—"धीरज धरो, बिटिया! रोने-धोने से क्या होगा? हाँ, ज़रा अब भैया पर निगाह रखना। वह कसबी जो न करे, थोडा है। कैसा मटक-मटककर चलती है! मै तो अपने दरवज्जे उसे खडी नहीं होने देती।"

आँसू-भरी आँखो से रामरती की ओर देखकर सुन्दरी ने कहा—"चाची, मै अब क्या करूँ? वह तो ऐसे नहीं थे। इस डाइन ने क्या कर दिया?"

"साँपिन है साँपिन! उसका मुँह देखना भी पाप है। देखो दुलहिन, घबडाव न। सबर करो। तुम्हे अपने गुरु महाराज के यहाँ ले चलूँगी। कोई उपाय कर देंगे तो सब ठीक हो जायगा।"

"हाँ, चाची, कोई जोग-ओग करा दो। बड़ा जस मानूँगी।"

"मैं सब ठीक करा दूँगी बिटिया। तुम सबर करो। हाँ, ज़रा कड़ी रहा करो। मर्द के साथ ढिलाई ठीक नहीं होती। अच्छा, अब चलूँ, देर हो रही है।"

"अब कब आओगी, चाची? ज़रा खोज-ख़बर रखना।"

"नहीं, दुलहिन, निसाखातिर रहो। बन पड़ेगा तो कल ही आऊँगी।"

सुन्दरी ने फिर रामरती के पैर छुए। रामरती ने आशीर्वाद दिया, चादर सँभाली; फिर वह धीरे-धीरे बाड़े के बाहर हो गई।

सुन्दरी ने अधमले बर्तन उठाकर कोठरी के कोने में डाल दिये और उस खाट पर पड़ रही जिस पर वह उस समय से विश्राम करती थी जब से, विवाह के बाद, उसने इस घर में पैर दिये। इस समय उसमें इतनी शक्ति भी न थी कि वह जूठे बर्तन तो साफ़ कर डालती। उस पुरानी खाट पर पड़ी-पड़ी वह छप्पर की ओर शून्य दृष्टि से ताकने लगी। उसके हृदय मे ज्वाला दहक रही थी। विश्वास और सन्देह का संग्राम था। विश्वास बार-बार कहता था—वह तो ऐसे न थे। किन्तु सन्देह अधिक बलवान् था; उसकी सहायता के लिए एक विश्वासपात्र का आँखों देखा प्रमाण था! उसे ऐसा जान पड़ने लगा मानो उसका सर्वस्व लुटा जा रहा हो। जिस नाविक ने आज से पच्चीस वर्ष पूर्व उसकी नाव को पार लगाने का भार लिया था, उसे सागर की विकट लहरे निगलती हुई दिखाई दीं। किन्तु उसे लहरो पर ही क्रोध न था, नाविक पर भी था। सीधा मार्ग छोड़कर उस टेढ़े रास्ते में जाना, जहाँ जल अशान्त है, भयानक जल-जन्तु है, छिपी हुई चट्टाने हैं, कहाँ की बुद्धिमानी है!

(३)

रात के दस बज गये थे, बाज़ार सूना हो चला था, इधर-उधर दो-एक को छोड़कर प्रायः सभी दूकानें बन्द हो गई थीं। दो घण्टा पहले सड़क पर जो चहल-पहल थी, अब उसका कहीं नाम-निशान तक न था। कहीं एक-दो आदमी आते-जाते दिखाई देते, कहीं एक-दो इक्के। देवी-दीन भी अपना खोंचा बढ़ाने में लगा हुआ था। उसने 'भल्ले' के ऊपर

से तराजू हटाई और आज की आमदनी का हिसाब लगाने लगा। उस तांबे, निकेल और चाँदी के ढेर को वह बडी देर तक और कई-कई तरह गिनता रहा। फिर उसने कमर से बसनी खोली और एक बार फिर गिनकर ढेर को उसमे रक्खा। बसनी कमर में बाँधकर उसने खोंचे की बची हुई चीजें सजाईं। थाल मे लगी हुई ढिबरी बुझाई और खोंचा उठाकर घर की ओर चला। इस समय उसके मुख पर सन्तोष झलक रहा था।

बाडे मे पहुँचकर देवीदीन ने देखा, उसकी कोठरी मे अन्धकार छाया हुआ है। उसने समझा कि सुन्दरी कहीं किसी पड़ोसी के घर गई होगी, जोर से आवाज़ दी—"कहाँ है रे—चल?"

कोई उत्तर न मिला। देवी ने फिर आवाज़ लगाई—"कहाँ गई—रे?"

फिर किसी ने उत्तर न दिया। तब उसे सन्देह हुआ कि सुन्दरी सो न गई हो। उसने अपने सिर, बग़ल और हाथो के बोझ सँभालकर दालान मे रख दिये, फिर मिरजई की जेब से दियासलाई निकालकर खोंचे की ढिबरी जलाई। ढिबरी के प्रकाश में उसने देखा, उसकी कोठरी के किवाड़ खुले हुए हैं और सुन्दरी एक मैला लिहाफ़ ओढ़े हुए खाट पर पडी है। देवी का माथा ठनका—'इसे हो क्या गया? अभी दोपहर को तो भली-चङ्गी थी!' उसने बाहर पडा हुआ सामान भीतर ले जाकर उचित स्थान पर रख दिया और कोठरी मे चारो ओर ध्यान से देखने लगा। जूठे बर्तन जैसे-के-तैसे पडे थे। चौका-चूल्हा पुता हुआ साफ़। 'तो क्या इस समय इसने खाना भी नहीं बनाया! क्या मामला है!' वह खाट के समीप गया और सुन्दरी के मुख से लिहाफ हटाकर पूछा—"क्यो पडी है? जी बहुत ख़राब है क्या?"

सुन्दरी सो नहीं रही थी, आँखे बन्द किये पडी थी। उसने नेत्र खोलकर एक बार पति के चेहरे की ओर ध्यान से देखा, फिर करवट बदल ली। 'क्या यह अपराधी का चेहरा हो सकता है? बोली में तो झिझक नाम को भी नहीं है!' उसका सन्देह कुछ शिथिल पडने लगा।

निरीक्षण का प्रभाव अभी अपना काम कर ही रहा था कि देवी फिर बोल उठा—"बोलती क्यो नहीं? क्या मामला है! जब देखो नख़रा करके पड जाती है।"

सुन्दरी के शरीर में आग-सी लग गई, कडककर बोली—"जाव-जाव, वहाँ जाव जहाँ मज़ेदारी है! यहाँ क्या धरा है?"

देवी के आश्चर्य का वारापार न था, बोला—"यह तू क्या बक रही है?"

सुन्दरी तैश मे आकर उठ बैठी, फिर रोषपूर्ण स्वर मे बोली—"बक रही हूँ! झूठ कह रही हूँ क्या? कहती तो हूँ, जाव, उसी के पास जाव जिसके साथ हँस-हँसकर बाते करते हो, गुलछर्रे उडाते हो, जिसे मिठाई के दोने खिलाते हो!"

देवी ने किवाड का सहारा लिया। इस संग्राम के लिए वह तैयार होकर नहीं आया था; उसे स्वप्न मे भी आशङ्का न थी कि घर पहुँचते ही ऐसा भीषण युद्ध छिड़ जायगा! वह आँखें फाड़े स्त्री की ओर देखता हुआ बोला—"यह तू क्या कह रही है? मैं किसके साथ गुलछर्रे उड़ाता हूँ?"

"उसी दुलरिया नानी के साथ! मौसी को पा जाऊँ तो कच्ची चबा जाऊँ! हाय राम!" फिर वह अञ्चल मे मुँह ढाँपकर ज़ोर-ज़ोर से सिसकने लगी।

देवी की कुछ समझ मे न आता था कि क्या कहे, कैसे सफ़ाई दे! ऐसा लाञ्छन उसे आज तक कभी नहीं लगा था। दो-तीन मिनट चुप रहकर उसने गम्भीरता से कहा—"यह सब झूठ है। मैंने उसके साथ कोई ऐसी बात नहीं की कि मुझ पर दोष लगे।"

सुन्दरी की सिसकियाँ एकाएक बन्द हो गईं। उसने सिर ऊपर उठाया और अश्रु-पूर्ण नेत्रो से पति के चेहरे की ओर देखती हुई बोली—"झूठ है! सारा जग झूठा है, बस तुम अकेले सच्चे हो! अगर तुम आधी गङ्गा मे पैठकर कहो, तब भी मै अब तुम्हारा ऐतबार न करूँगी! हाय! मैं तो कही की न रही!" सुन्दरी फिर सिसकने लगी।

युद्ध अब कठिन हो गया था, और प्रतिघात का कोई साधन भी न था, इसलिए रणक्षेत्र से टल जाना ही उचित जान पडा। कदाचित् इसे कायरता नहीं कह सकते। देवी ने नारियल उठाया, चिलम ली, एक टीन के डिब्बे से थोड़ी-सी तम्बाकू निकाली और चिलम मे तम्बाकू जमाता हुआ वह घर के बाहर हो गया।

देवी जब घर से बाहर निकला तो उसके चेहरे पर उस भाव का कोई चिह्न न था जो घर आते समय उसे प्रफुल्लित कर रहा था। जिस जीवन-मार्ग मे वह कल तक निश्चिन्त चला जाता था, वहाँ आज उसे पहली बार ठोकर लगी। देवी अधीर हो उठा। स्त्रियाँ ऐसी अन्यायिनी हो सकती हैं—इसका अनुमान आज उसे पहली बार हुआ। साधारण विनोद का ऐसा कुटिल मतलब लगाया गया! आखिर उससे कहा किसने? कही यही तो उस तरफ़ नहीं गई थी! और मैंने दुलारी को मिठाई कब खिलाई? परमात्मा! क्या दुनिया से इसाफ बिलकुल उठ गया?—ऐसे ही विचारो मे मग्न देवी दुर्गा के मन्दिर के पासवाले कुँए पर पहुँच गया।

इसी स्थान पर देवी की मित्र-मण्डली नित्य एकत्र होती थी। इस समय भी कुएँ की जगत पर तीन-चार आदमी जमा थे। उनमे से एक देवी को देखते ही बोला—"आओ देवी, आओ आज बडी जल्दी की। आज जल्दी ही बढ़ा दिया क्या?"

देवीदीन एक ओर बैठ गया। पसपत ने पूछा—"खा-पी चुके देवी?"

"खा क्या चुके! जब क़िस्मत में लिखा हो तब तो!" देवी के स्वर मे अपार वेदना थी।

दुक्खी ने आश्चर्य से पूछा—"क्या हुआ देवी? भौजी से कजिया भई है क्या?"

"हाँ, भैया। जब देखो एक-न-एक लगाये रहती है। आग है?"

"हाँ, है। उधर अँगीठी मे है। जाव लेलो।"

देवीदीन उठकर चिलम भरने लगा। बूढ़े बुद्धू ने सिर हिलाते हुए पूछा—"काहे कजिया भई, देवी?"

देवी ने चिमटे से चिलम मे आग रखते हुए उत्तर दिया—"कुछ नहीं। बेवकूफ़ है। बेबात-की बात करती है।"

पसपत—"आख़िर, क्या बात थी?"

"अरे कुछ नहीं। कहा तो, बेवकूफ है।"

देवी को विवश करने के लिए दुक्खी ने कहा—"तो हम लोग अब ग़ैर हो गये, देवी?"

देवी दुक्खी की ओर मुँह फेरकर बोला—"नही दुक्खी, यह बात नहीं है। अच्छा लो बताये देता हूँ, कहती थी—दुलारी से नज़र लडाते हो!"

सब ठट्ठाकर हँस पडे। जब हास का वेग कम हुआ तो पसपत ने गम्भीर होकर कहा—"यह अब तुम्हे बुढाई मे क्या सूझी है, देवी!"

बुद्धू (हँसते हुए)—"हाँ, भैया देवी का कुछ ठिकाना नहीं! जो करे, थोडा है।"

फिर सब हँस पड़े।

दुक्खी—"अच्छा रामो राम कहना देवी, यह बात सच है न?"

देवीदीन ने चिलम नारियल पर चढ़ाई और समीप जाकर कहा—"अच्छा, तुम लोग अपनी हँसी बन्द करो तो एक बात पूछूँ।"

सब चुप हो गये। देवी ने अपनी कठिनाई पेश की—"अगर औरत झूठा अपराध लगावे तो मर्द क्या करे?"

पसपत—"बडा गहिरा सवाल है, भाई!"

दुक्खी—"देखो, मै जवाब देता हूँ, उसका तलुआ सुहलावे, भैया!"

सब फिर ठट्ठा देकर हँसे।

देवीदीन बैठ गया और दम पर दम खींचने लगा। जब लोगो की हँसी का वेग कम हुआ तो उसने कडे होकर कहा—"मै तो तुम लोगो से एक बात पूछ रहा हूँ और तुम लोग दिल्लगी कर रहे हो!"

सब समझ गये कि सीमा पहुँच गई। पसपत ने गम्भीर होकर कहा—"तुम तो हो बेवकूफ, देवी। मै होता तो दो धौल लगाता, सीधी हो जाती। सीधे का मुँह कुत्ता चाटता है।"

बुद्धू साह ने अपने अनुभव की गम्भीरता से समर्थन किया—"ठीक कहते हो, पसपत। बग़ैर कडाई किये औरत क़ाबू में नहीं रहती।"

देवी (सरलता से)—"भाई, मुझसे तो यह नहीं होता कि उसे मारूँ।"

दुक्खी—"तुम जनम के ज़नाने हो!"

थोडी देर तक ऐसी ही बातें होती रहीं। फिर सभा विसर्जित हुई।

निराशा और दुविधा से घिरा हुआ देवीदीन घर की ओर चला। उसे मित्रों से सान्त्वना की आशा थी। पर उसे मिला क्या—परिहास! देवी यदि अपने मित्रों के स्थान में होता, तो क्या वह मज़ाक़ न उडाता? ख़ूब क़हक़हे लगाता, ख़ूब चोटें करता। किन्तु मानव-स्वभाव विचित्र है—जिस अवस्था मे उस समय उसे हँसी ही हँसी सूझती, उसमें आज उसे रुलाई आ रही थी। अपने इस घरेलू झगडे में उसे विनोद के लिए कोई गुञ्जाइश नहीं दिखाई देती थी। लेकिन अपने साथ संसार तो नहीं रो सकता। देवी सोचता चला जाता था—अच्छा बखेडा खड़ा हो गया। न जाने उसने खाना बनाया कि नहीं। उसे जब क्रोध आता है, तो बिलकुल पागल-सी हो जाती है, न कुछ सोचती है न समझती है। मैं दुलारी से बातें न करता तो यह सब क्यो होता? मेरी अकिल भी मारी गई है।

घर आ गया, देवी ने देखा। द्वार बन्द है किन्तु साँकल नहीं चढी है। धीरे से किवाड खोलकर उसने भीतर प्रवेश किया। अपना क्षीण, करुण प्रकाश फैलाती हुई ढिबरी अभी तक आहे भर रही थी। लिहाफ़ ओढे हुए सुन्दरी वैसी ही खाट पर पडी थी। देवी कडाई करने का पक्का इरादा करके आया था; पर घर में प्रवेश करते ही इरादा पलट गया। उसने नारियल एक कोने में दीवार का सहारा लगाकर रख दिया, कच्चे फर्श पर एक चटाई बिछाई, फिर ढिबरी बुझा दी, साँकल चढ़ाई, और अपना पुराना फटा कम्बल ओढ़कर करवटें बदलने लगा। ख़ाली पेट नींद भी जल्दी नहीं आती। कोठरी के अन्धकार मे वह बडी देर तक छप्पर की ओर ताकता रहा। इधर-उधर, भीतर-बाहर—चारों ओर चूहों की दौड़ लगी हुई थी। अन्त मे निद्रादेवी को दया आ गई।

(४)

दूसरे दिन जब देवीदीन की नींद खुली तो दिन चढ आया था। देवी आँख मलता हुआ उठ बैठा, फिर उसने कोठरी मे चारो ओर नज़र दौडाई। उसे ऐसा जान पडा मानो वह पहले का देवी नही है, मानो रातभर मे वह बिलकुल बदल गया है। किन्तु कोठरी मे कोई परिवर्तन न दिखाई दिया। सारी चीज़े अपने-अपने स्थान पर रक्खी हुई थीं, किसी की सूरत नही बदली थी। छप्पर से छन-छनकर सूर्य की किरणे उसके उस छोटे-से घर को आलोकित कर रही थीं, जैसे नित्य करती थीं। हाँ, सुन्दरी वहाँ नहीं थी। भिडे हुए किवाड खोलकर देवी बाहर झाँका। उसके पडोसी सब अपने-अपने काम मे लगे हुए थे, जैसे नित्य लगे रहते थे। संसार अपनी सुव्यवस्थित गति से चला जाता था। परिवर्तन कही नाम को भी न था। देवी को आश्चर्य हुआ, ऐसा आश्चर्य जैसा उसने कभी अनुभव नही किया था। फिर सुन्दरी की अनुपस्थिति ने उसका ध्यान आकृष्ट किया। वह गई कहाँ! देवी उठकर बाहर दालान मे गया, पर सुन्दरी कहीं दिखाई न दी। वह फिर अन्दर चटाई पर जा बैठा। भाँति-भाँति की शंकाये उसे तङ्ग करने लगीं। इसी प्रकार आध घण्टा बीत गया, पर सुन्दरी न लौटी। तब उसने नारियल उठाया, चिलम मे तम्बाकू जमाई, कुण्डी चढाई और एक पडोसी के यहाँ आग लेने चला गया।

दस बजे जब देवी खोंचा लेकर सडक पर पहुँचा तो बिन्दा महाजन ने पूछा—"आज बडी देर कर दी देवी! देर तक सो गये थे क्या?"

देवी ने अपने बैठने के स्थान पर झाडू लगाते हुए उत्तर दिया—"नही दादा, कल रात से घरवाली महनामथ मचाये हुए है। आज सबेरे ही से न जाने कहाँ ग़ायब है।"

महाजन ने बुद्धिमत्ता से सलाह दी—"जरा डाट-डपट रक्खा करो। कहीं गई होगी, आ जायगी। औरत को सिर चढाना अच्छा नहीं होता।"

इतने में एक ग्राहक आ गया। महाजन का ध्यान उस ओर बँट गया। देवी खोन्चा सजाने लगा। बिन्दा की बेमाँगी सलाह ने कल रात की सारी बातें ताज़ा कर दीं। वह मन ही मन खीझ उठा।

अन्य दिनों की भाँति देवी आज दोपहर को घर भोजन करने नहीं गया। उसे पता चल गया था कि सुन्दरी आ गई है। किन्तु वह नहीं गया। क्या वह मान करना नहीं जानता? आख़िर वह भी तो आदमी ही है। आज उसने भुने हुए चनों पर ही सन्तोष किया। बड़ी भूख लगी हुई थी; चने बड़े स्वादिष्ठ मालूम हुए। चने चबाकर उसने लोटा भर पानी पिया और फिर पङ्खी लेकर मक्खियाँ उड़ाने लगा।

चार बजे का समय था। देवी ग्राहकों की प्रतीक्षा कर रहा था। सहसा एक ओर 'छुम-छुम' की आवाज़ हुई। देवी ने एक बार उस ओर देखा, फिर मुख दूसरी ओर फेर लिया। आज यह शब्द सुनकर उसे वह हर्ष नहीं हुआ, जो कल हुआ था। यह दुलारी के पैरों की ही झङ्कार थी। किन्तु देवी इस झङ्कार से जितनी दूर रहना चाहता था, वह उतनी ही निकट आती जाती थी। अन्त में किसी ने बिलकुल समीप आकर पूछा—"क्या देख रहे हो लाला?"

विवश होकर देवी ने प्रश्नकर्ता की ओर मुख फेरा—दुलारी खड़ी मुसकिरा रही थी।

देवी ने अन्यमनस्कता से उत्तर दिया—"कुछ नहीं।"

दुलारी के आश्चर्य की सीमा न रही—कहाँ वह कल का स्वागत, कहाँ यह शुष्कता! लेकिन वह टली नहीं, देवीदीन के समीप शिवालय की सीढ़ियों पर बैठ गई। दुलारी क्षण भर देवी के मुख की ओर ध्यान से देखती रही, फिर बोली—"कैसा जी है, लाला?"

"अच्छा है" देवी ने दूसरी ओर मुख किये हुए उत्तर दिया। उसे दुलारी पर असाधारण क्रोध आ रहा था। यह अभागिन फिर आ टपकी—नीचों को मुँह लगाना कितना बुरा होता है।

भाग्यवश इसी समय एक ग्राहक आ गया। देवी उधर आकृष्ट हुआ। दुलारी ने उठकर कहा—"चलती हूँ, लाला" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये एक ओर चली गई। देवी ने सन्तोष की साँस ली।

आज देवीदीन ने ग्यारह बजे खोंचा बढाया। घर जाने के विचार से उसे भय-सा लग रहा था। इसी कारण वह देर करता रहा। मैं उसके सामने कैसे जाऊँगा? वह क्या कहेगी? मै क्या उत्तर दूँगा? इसी प्रकार के विचार उसे विकल करते रहे।

देवीदीन को आशा थी कि सुन्दरी सो गई होगी। सत्य तो यह है कि इसी आशा ने उसे घर जाने का साहस दिलाया था। किन्तु बाडे मे प्रवेश करते ही उसने देखा, उसके घर का दरवाज़ा खुला हुआ है और कोठरी मे प्रकाश भी फैला हुआ है। इस प्रकाश ने आशा पर पानी फेर दिया। उसके साहस का अन्त हो गया। इस प्रकाश की अपेक्षा अन्धकार कितना प्रिय होता। यह प्रकाश शान्ति के स्थापित होने की घोषणा न थी; यह सूचित कर रहा था कि प्रतिद्वन्द्वी युद्ध के लिए तैयार है। देवी के क्षुधा-पीडित शरीर मे प्रतिघात की शक्ति न थी। उसके जी मे आया कि लौट जाय। पर जाय कहाँ? उसे इस समय कहाँ ठिकाना मिलेगा? वह कई क्षण संकल्प-विकल्प की दशा मे खडा रहा, फिर अपना बचा-बचाया साहस एकत्र करके आगे बढ़ा। उसके मुख पर वह विकट गम्भीरता थी जो दुस्साहस की सीमा है।

खोंचा लिये हुए देवी ने घर मे प्रवेश किया। सुन्दरी चटाई पर, खुले हुए किवाडो की ओर मुख किये, बैठी थी। उसने पति के चेहरे पर एक बार दृष्टि डाली, फिर दूसरी ओर मुँह फेर लिया। उसके नेत्रो मे अपार तिरस्कार भरा हुआ था। देवी के बदन मे आग-सी लगी। ऐसा घोर अपमान! उसका हृदय असाधारण क्रोध से आन्दोलित हो उठा, नेत्रो से ज्वाला निकलने लगी। उसने अपना बोझ ज़मीन पर धमाके के साथ रख दिया, खुले हुए द्वार की ओर चला, चौखट पर खड़ा-खड़ा क्षण भर कुछ सोचता रहा, फिर जल्दी-जल्दी बाडे से बाहर

चला गया। स्त्री ऐसी कठोर, ऐसी निर्दय, ऐसी हृदयहीन हो सकती है—यह उसे आज ज्ञात हुआ। सारा नारी-समाज आज उसकी दृष्टि मे अपराधी था। आज उसे ऐसा जान पडता था, मानो महा-निद्रा के बाद उसकी आँखें खुली हो।

सारी रात सुन्दरी पति की प्रतीक्षा करती रही। रामरती के गुरु की दी हुई जडी खाट मे बाँधे अपने भाग्य को रोया की। घर से पति के बाहर निकलते ही उसका माथा ठनका था, किसी ने उसके मन में कहा था—'वह न लौटेंगे।' उसके हृदय मे प्रबल प्रेरणा हुई थी कि वह देवी के पीछे दौडे, उसके पैरो से लिपट जाय और मनाकर घर लिवा लावे। किन्तु, न जाने किस अज्ञात शक्ति ने उसके पैरो मे बेडी डाल दी थी। उसने पति को झिडकियाँ दी थी, उसका अपमान किया था, तिरस्कार किया था—केवल इसी लिए कि वे अपने थे। क्या उनका यों रूठ जाना अन्याय नहीं है ? इसी तरह वह सारी रात रोती-पछताती रही। पर देवी नहीं लौटा।

दूसरे दिन भी देवी का कहीं पता नहीं लगा। सुंदरी का सौभाग्य-सूर्य अस्त हो गया।

(५)

दस वर्ष बीत गये। वह पीपल का वृक्ष जैसा का तैसा खडा है। उसमें हर साल नये पल्लव निकलते है, हर साल सूखकर गिर जाते हैं। उसकी अगणित डालियो पर आज भी पक्षी विश्राम करते हैं, घोसले लगाते हैं। उसकी शीतल छाया मे आज भी बटोही आराम करते हैं। उसके नीचे आज भी खोचा लगता है। किन्तु खोचा लगानेवाला आज कोई मर्द नहीं है, एक दुर्बल, क्षीण-काय स्त्री है। वह है देवीदीन की स्त्री, सुन्दरी। सुन्दरी की उम्र ढल चुकी है, पति की प्रतीक्षा में उसका एक एक बाल पक गया है। लेकिन उसका उत्साह क्षीण नहीं हुआ। कोई उससे बार बार कहता है—'वे आयेंगे, अवश्य आयेंगे।'

देवी के चले जाने के पश्चात् सुन्दरी को शौक़ और श्रृङ्गार की सारी चीज़ो से अरुचि हो गई। उसका पति कृपण अवश्य था, किन्तु सुंदरी को पूरी आज़ादी थी—वह जो कुछ चाहती, ख़र्च करती; जो शौक़ चाहती, पूरा करती। पर, अब वह मोटा खाती है, मोटा पहनती है। इन दस वर्षों मे उसे किसी ने किसी से लडते-झगडते नहीं देखा। अब वह किससे लडे, किसके बल पर? अपनो ही से तो लडा जाता है। जब से देवी गया, वह खाट पर नही सोई। दिन भर खोंचा लगाती है, और रात को रूखा-सूखा खाकर चटाई पर पड रहती है। किन्तु उसके पति की सेज निरन्तर सजी रहा करती है। उस पुरानी खाट पर उसके हाथ की गूँथी हुई एक मोटी कथरी बिछी रहती है और उसके ऊपर एक सफ़ेद चद्दर। सिरहाने एक सफेद तकिया भी रक्खा रहता है। कभी-कभी उस स्वच्छ सेज पर सवेरे बेला और जूही के मुरझाये फूल भी दिखाई देते है। उस सेज पर न वह कभी पैर रखती है, न किसी और को रखने देती है। वह अपने पति की स्मृति की पुजारिन है। उपासिका अपने आराध्य-देव का अपमान कब देख सकती है।

साँझ हो चली थी। सुन्दरी ने चिमनी जलाई, फिर उसने हाथ जोड़कर सिर झुकाया और रजनी का अभिवादन किया। जब उसने नेत्र खोले तो सहसा उसकी दृष्टि सामने पड़ी। उसने देखा, एक बूढा साधु गेरुए रङ्ग का वस्त्र पहिने, गले मे रुद्राक्ष की माला डाले, हाथ में बडा-सा चिमटा लिये, सामने खडा हुआ उसकी ओर ध्यान से देख रहा है। साधु के सिर, मूछो और दाढी के बाल सन की तरह सफेद थे। सुन्दरी की आँखो मे प्रेमाश्रु छलक आये। क्या उसने साधु को नहीं पहचाना? क्या वह उसे कभी भूल सकती है जिसकी देव-मूर्ति उसके हृदय-पटल पर अंकित है, जिसकी वह नित्य आराधना करती है! सुन्दरी अपने स्थान से उठी और साधु की ओर चली। किन्तु वह जल्दी-जल्दी आगे बढ गया। जब साधु नेत्रो से ओझल हो गया, तो सुन्दरी आँचल मे मुँह छिपाकर फूट-फूट कर रोने लगी।

(६)

उपर्युक्त घटना के पश्चात् कई मास बीत गये। सुन्दरी इन दिनों अपनी और अपने पति की कमाई के धन से एक मन्दिर बनवा रही है। अब उसका धर्मानुराग पूर्ण-रूप से जग पडा है। सवेरे गङ्गा-स्नान करना और मन्दिरों मे दर्शन-पूजन करना अब उसका नित्य का नियम है। लेकिन अपना काम उसने नही छोडा; वह नित्य खोंचा लगाती है। समय निकालकर वह मज़दूरो का काम भी देख आती है। अब उसके हृदय में केवल एक लालसा है—'एक बार उनसे फिर भेंट हो जाती!' और उसे पूर्ण आशा थी कि उसकी इच्छा अवश्य पूरी होगी।

क्वार का महीना था। चारो ओर ज्वर का प्रकोप था। कोई ऐसा घर न था, जहाँ दो-चार प्राणी बीमार न पडे हो। सुन्दरी भी एक सप्ताह से पडी हुई थी। रामरती अभी जीवित थी। वही उसे सवेरे-शाम बनफशा पकाकर पिला जाती थी।

उषा की लालिमा पूर्व आकाश को रक्त-रञ्जित करने लगी थी। पक्षियो का स्वागत-गान आरम्भ हो गया था। इसी समय सुन्दरी की आँख खुली। उसका जी आज कुछ हलका था। उसे गङ्गा स्नान की धुन सवार हो गई। उसने उठकर पहले पति की सेज के सम्मुख मस्तक झुकाया, फिर चादर ओढी, पीतल की डोलची उठाई, उसमें पूजा की सामग्री रक्खी, धोती ली, और लाठी टेकती हुई बाहर निकली। साँकल चढाई, ताला लगाया और धीरे-धीरे बाडे के बाहर हो गई।

हाँपते-काँपते, उठते-बैठते, किसी-न-किसी तरह सुन्दरी दो घण्टे में त्रिवेणी के तट पर पहुँच गई। किनारे हड़-बोंग मचा हुआ था। पण्डे सुन्दरी को देखते ही चीख़ने लगे—"माई इधर", "माताजी इधर", "बाईजी इधर"। भक्त जनो की भीड़ थी। कुछ नहा रहे थे, कुछ नहाकर जा रहे थे, कुछ नहाने आ रहे थे। सुन्दरी ने अपनी लाठी, धोती और चादर एक चौकी पर रख दी, कुछ देर बैठी सुस्ताती रही, फिर डोलची उठाई और तट पर जाकर डोलची और पूजा के

पात्र रेत से रगड़-रगड़ कर साफ़ करने लगी। वह गिरती-पड़ती तट की ओर दौड़ी। डोलची साफ करके उसने पूजा के पात्र उन्हें यथास्थान सजा दिये। डोलची घाटिये को सौंपकर वह जल में पैठकर स्नान करने लगी। जब वह चार-पाँच डुबकियाँ लगा चुकी तो, घुटने भर जल में खड़े-खड़े, अञ्जलि में भर-भरकर उसने सूर्य को जल चढ़ाया, फिर माँ जाह्नवी से एक प्रार्थना की। उसने तट की ओर मुँह मोड़ा। उसका शरीर काँप रहा था। उसे ऐसा जान पड़ा मानो उसका साधु पति तट पर खड़ा हुआ उसकी ओर ध्यान से देख रहा है। वह गिरती-पड़ती, गीली धोती सँभालती हुई, तट की ओर दौड़ी। जब वह किनारे पहुँची तो साधु अदृश्य हो गया था। वह मूर्छित होकर गीले तट पर गिर पड़ी। उसकी वह मूर्च्छा फिर नहीं टूटी। उसकी वह साध, वह लालसा, जिस पर उसका जीवन अवलम्बित था, पूरी हो गई।

जो बाज़ार मे एक-एक चीज़ के लिए मचलता किन्तु एक रंगीन खिलौना पाकर बहल जाता है। आप बड़े-बड़े मंसूबे बाँधा करते थे। कभी ग्रामीण जीवन की सुखद कल्पना करते थे; कभी नागरिक रस रग की चर्चा। कभी देश-सेवा का मधुर अलाप लेते, कभी सरकारी नौकरी की बेसुरी तान छेड़ा करते। कभी कृषि-शास्त्र पर लम्बा-चौडा व्याख्यान दे डालते, कभी कला कौशल और वाणिज्य-व्यापार पर अच्छा ख़ासा निबन्ध लिख मारते। इसी तरह नित्य खयाली पुलाव पकाते रहते थे। आप अपने समय के दूसरे शेखचिल्ली थे। आपकी काग़ज़ी स्कीमो को कार्यरूप मे परिणत होने का कभी सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। उनकी जीवन-यात्रा विचार-जगत् ही मे आरम्भ होती और वहीं समाप्त हो जाती थी। परन्तु मनचला खिलाडी आये दिन नई रचनायें रचा ही करता था।

आर्थिक ख़ुशहाली निरर्थक कल्पना-शक्ति को ख़ूब उत्तेजित कर देती है। किन्तु धनाभाव और आवश्यकताओ का वज्र-प्रहार बड़े-से-बडे हवाई क़िले मिनटा मे ढेर कर देता है। यौवन के मधुर स्वप्न पिता की मृत्यु के साथ ही लुप्त हो गये और विकराल जागृति का ताण्डव-नृत्य आरम्भ हुआ। अपना दारिद्र्य इतना दुःखदाई नहीं होता, जितना अपनी दयनीयता का ज्ञान। जिस मित्र-मण्डली के सिरमौर थे, उसी के सामने सिर नीचा करना पड़ेगा! एक वह फ़क़ीर, जिसका आधिपत्य सन्त-समाज पर हो, उस हीन सम्राट् से कहीं प्रसन्न-चित्त होता है, जिसकी बादशाहत छिन गई हो, और कोई बात पूछनेवाला न हो।

कौशलकिशोर के पिता खा, पी और मस्त रहने के सिद्धान्त के क़ायल थे। जब तक जीते रहे, आपको इस बात का अभिमान रहा कि आपको भविष्य की चिन्ता नहीं सताती। आप उन लोगों मे थे, जिनकी आय व्यय से दबी रहा करती है, और जिनका कोष महीना व्यतीत होते-होते वैसा ही ख़ाली दिखाई देता है, जैसे रात के पिछले पहर नशे के उतार की हालत मे शराबी की छूँछी बोतल। इस प्रकार के जीवन-क्रम का

केवल एक नतीजा होता है, ऋण का आश्रय। ऋण-देव अपने उपासक को जो-जो नाच नचाते हैं, उनका दृश्य हास्यास्पद नही, करुणाजनक होता है। ऋण-रूपी शिकारी अपने शिकार को वैसे ही खिला-खिलाकर मारता है, जैसे बिल्ली चूहे को। संसार में न कुछ लेकर आये थे, न यहाँ से कुछ लेकर गये। हाँ, पुत्र के लिए एक तरका—ऋण का भारी बोझ!—छोड गये।

(२)

सायङ्काल का समय था। कौशलकिशोर चिन्ता-ग्रस्त बैठे हुए थे। मातमपुर्सी करने के लिए आये हुए स्नेही अपने-अपने घरो को वापस जा चुके थे। पिता की मृत्यु से बाबू साहब पर एक बड़े ख़ानदान के पालन का भार आ पडा था। जितने सज्जन सहानुभूति प्रकट करने आये, सब उत्तरदायित्व पर ही ज़ोर दे गये। किसी ने कठिनाई हल करने का उपाय न बतलाया। कौशल सोचते थे, मै अपना उत्तरदायित्व ख़ुद ही ख़ूब समझता हूँ; फिर हर व्यक्ति के बार-बार उसी का उपदेश देने की क्या ज़रूरत थी? ख़ैर, यह तो दुनिया का तरीक़ा है। अब जीविका के लिए क्या उपाय करूँ? कहाँ जाऊँ? किससे कहूँ?

कल्पित भविष्य का चित्र दूर से बड़ा चित्ताकर्षक प्रतीत होता है, परन्तु वह निर्दिष्ट समय ज्यो-ज्यो पास आता जाता है, चित्र के रङ्ग भी उड़ते जाते हैं। और, जब भविष्य वर्तमान मे परिणत हो जाता है, तब उसके कल्पित चित्र की आकर्षणी-शक्ति उसी तरह क्षीण हो जाती है, जैसे निकट के देखने से नाट्य-मञ्च पर लगे हुए परदो के रंग और रोग़न। कौशलकिशोर की दशा इस समय उस रसिक नवयुवक की-सी थी, जिसकी आँखे रात-भर सुन्दर स्वप्न देखने के बाद प्रातःकाल खुली हों।

रात के घोर-से-घोर अन्धकार मे भी तारो की रोशनी होती है। कौशलकिशोर के विचार-जगत् मे नैराश्य की काली-काली घटाये अवश्य उमड रही थीं, परन्तु आशारूपी बिजली भी रह-रहकर चमक ही जाती थी। उन्हे केवल एक व्यक्ति से सहायता की आशा थी। वह थे

बैरिस्टर हृदयनाथ। कौशल के पिता और उनमे बड़ी घनिष्ठता थी। दोनो महाशय एक साथ पढे थे। मित्र के मरने पर बैरिस्टर साहब को बड़ा शोक हुआ। कौशल के पास आपने एक सहानुभूतिसूचक पत्र भेजा, और उनका उत्साह बढाया। नैराश्य की विकराल लहरो की लपेट मे पडे हुए कौशल को यही घाट दिखाई दे रहा था, यही आशा बँधा रहा था।

(३)

बैरिस्टर हृदयनाथ एक ऐश्वर्यशाली आदमी थे। आपकी वकालत खूब चमकी हुई थी, सारे प्रान्त मे आपकी-जैसी सूझ का दूसरा वकील न था। लोगो का दृढ विश्वास था कि आप बेजान मुक़दमो मे भी जान डाल देते है। मोटरें थीं, बँगले थे, कम्पनियो में हिस्से थे, बैङ्को मे रुपये थे। आप स्थानीय अँगरेज़ी समाचार-पत्र के संस्थापको में से थे और उसके डाइरेक्टरों मे प्रधान भी।

प्रातःकाल आठ बज चुके थे। मि० हृदयनाथ छोटी हाज़री खाकर उठे ही थे कि नौकर ने बाबू कौशलकिशोर के आने की इत्तिला दी। उन्होने नौकर को उन्हे बुला लाने की आज्ञा देकर एक सिगार जलाया और धुएँ के सुरसुरे छोडने लगे। मि० हृदयनाथ कौशलकिशोर की प्रतीक्षा में टहल रहे थे। देखते ही हाथ मिलाया और कुर्सी पर बिठाया।

थोडी देर तक इधर-उधर की बातचीत होती रही। कौशलकिशोर वार्तालाप मे भाग तो अवश्य ले रहे थे, परन्तु मस्तिष्क और ही उलझन मे फँसा हुआ था। समस्या थी, कैसे मतलब की बात छेड़ूँ? गौरव-शील आदमी दूसरो के सामने दीनता प्रकट करने से पहले मर जाना पसन्द करता है। वह कुछ कह न सके।

मिस्टर हृदयनाथ मनोविज्ञान के विज्ञ शास्त्री थे। मुखाकृति देख-कर आदमी के मन की बात जान लेना आपके लिए साधारण बात थी। आप कौशल की कठिनाई ताड गये। भावुकता का आपकी दृष्टि में यों ही कुछ मूल्य न था, फिर उसका व्यावहारिक बातों मे प्रयोग तो आपको

वैसा ही असङ्गत प्रतीत होता, जैसे भैरवी के समय श्यामकल्यान की तान। ऐसे व्यक्ति के प्रति आपके हृदय में दया न थी। किसी और समय हँसी उड़ाये बिना न रहते, परन्तु इस समय परिस्थिति ही दूसरी थी। कौशल के हाल पर दया आ गई। भावुक कौशल मौन की दयनीय दशा का करुण चित्र था। उनके हृदय मे सहानुभूति के गुप्त स्रोत बह निकले। बोले—"आप बी० ए० तो पास ही कर चुके होगे। कहिए, अब क्या करने का विचार है?"

कौशल को हर्ष भी हुआ और विषाद भी। हर्ष हुआ हृदय का बोझ उठ जाने पर, परन्तु खेद इस पर था कि जिस पर विश्वास किया उसी ने धोखा दिया। समझते थे, मौन अपनी वास्तविक अवस्था पर परदा डाले रहेगा; पर उसी ने भण्डा फोड़ दिया। हम जितना ही कोई बात दूसरो से छिपाना चाहते हैं, वही बात प्रकट हो जाने पर उसकी चर्चा के लिए उतने ही उत्सुक हो जाते है। कौशल ने कहा—"जी हाँ, इसी सोच मे तो हूँ कि क्या करूँ। इस समय आपके पास आने का यही कारण है।"

"मैंने सुना है, आपकी रुचि देश-सेवा की ओर है।"

"जी हाँ। अपने जीवन का मैंने यही लक्ष्य निश्चित किया है।"

"मेरे विचार में तो देश की वर्तमान परिस्थिति मे सेवा के केवल तीन साधन हैं—धन, वाणी और लेखनी। नवयुवको के लिए प्रायः पिछले दो साधन ही साध्य होते है। तीसरे मार्ग के अनुसरण मे आपकी कुछ मदद कर सकता हूँ। कहिए, आप 'वेनगार्ड' मे काम करना पसन्द करेंगे?"

"क्यो नहीं। सहर्ष।"

"अच्छा, तो मैं हेमचन्द्र के नाम एक परिचय-पत्र देता हूँ। 'वेन गार्ड' के वही प्रधान सम्पादक हैं। पत्र लेकर जाइए और काम कीजिए।"

"मै आपकी कृपा के लिए कृतज्ञ हूँ।"

कौशल ने मुँह माँगी मुराद पाई। परिचय-पत्र लिये यो चले जा रहे थे, जैसे लाखों की लाटरी अपने नाम निकलने का तार पाया हो।

उसी दिन से कौशल ने 'वेनगार्ड' मे काम शुरू कर दिया।

(४)

पाँच वर्ष बीत गये। कौशल अब स्वयं 'वेनगार्ड' के सम्पादक थे। आपका परिश्रम, उत्साह और कार्यदक्षता अन्त में फलीभूत हुई। पत्र का सम्पादन बडी उत्तम रीति से होता था। 'वेनगार्ड' उच्च कोटि के दैनिक पत्रो मे गिना जाने लगा। कौशल की प्रौढ लेखनी अब अपना रङ्ग दिखा रही थी। आपकी टिप्पणियाँ बडी चमत्कार-पूर्ण, भाव-पूर्ण और बहुत प्रभावोत्पादक होती थीं। सामयिक प्रश्नो पर आपके विचारों की बडी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा की जाती थी।

योरप का महायुद्ध समाप्त हो चुका था। भारत को उसकी सेवाओ के बदले पारितोषिक स्वरूप 'सुधार' मिले। देश इस समय इन्ही सुधारो पर विचार कर रहा था। 'वेनगार्ड' में सुधारो पर एक लेख-माला प्रकाशित हुई। माला ने राजनीति-संसार मे हलचल मचा दी। लेखों की भाषा ऐसी सुन्दर थी, शैली ऐसी विचित्र थी, भाव ऐसे मौलिक और ऐसे गम्भीर थे कि कोई तारीफ़ किये बिना न रह सका। पहले लेख मे भारत की दीन दशा का बडे करुण शब्दो मे वर्णन किया गया था। उसकी सेवाओ का सविस्तर वर्णन था। दूसरे में दबी ज़बान से कृतज्ञता प्रकट करते हुए सुधारों पर तीव्र दृष्टि डाली गई थी, उसकी कमियो पर ज़ोर दिया गया था। तीसरे मे नौकरशाही पर कडी आलोचना और शङ्का की गई थी। यथा—इनके रहते भारतीय सुधारों द्वारा प्राप्त हुए स्वत्वो से कैसे फायदा उठा सकेंगे—यह हज़रात ज़रूर रोड़े अटकायेंगे। चौथे लेख में प्रान्तीय दृष्टिकोण से समालोचना की गई थी, इस बात पर सन्तोष प्रकट किया गया था कि सर जार्ज नैनकिन प्रान्त के गवर्नर हैं। उनकी विद्वत्ता, उनकी विचारशीलता और न्यायप्रियता की प्रशंसा की गई थी, और लिखा गया था—"हमें पूर्ण आशा है कि सर जॉर्ज-जैसे अनुभवी गवर्नर के शासनकाल मे सुधार पूर्ण रूप से सफल होंगे और उनकी सफलता का सेहरा गवर्नर महाशय के सिर बँधेगा। हमे यह भी विश्वास है कि सर जार्ज अपनी सहायता के लिए नये पदों पर

ऐसे सहकारी नियुक्त करेंगे, जिन्हें देश और काल का वास्तविक ज्ञान हो।" अन्त में राजनीतिक दलो से एक विशेष अनुरोध था—"हम मानते हैं कि सुधार विशेष सन्तोषजनक नहीं हैं। इनसे भारत को स्वर्ग न प्राप्त हो जायगा। परन्तु यह हमारे ध्येय की उस अलौकिक अवस्था की पहली सीढी है। इनसे लाभ न उठाना हमारी समझ मे बुद्धिमत्ता नहीं। भारत का कल्याण इसी मे है कि हम पारस्परिक विरोध छोडकर सुधारो को सफल बनाने की चेष्टा करे, और पूर्ण स्वतन्त्रता-लाभ के लिए सम्मिलित आन्दोलन करते रहे।"

बाबू कौशलकिशोर के प्रतिद्वन्द्वी बग़लें बजाते फिरते थे—"देखा भाई! वही बात हुई न। हम पहले ही कहते थे कि ये महाशय सब्ज़ बाग़ दिखा रहे हैं। देशभक्ति का कैसा स्वाँग भरते थे। अन्त मे फिसल पडे न।"

उनके साथी कहते थे—"कैसे गम्भीर सिद्धान्त हैं। कैसा राजनीतिक पाण्डित्य है। राजनीति मे उग्रता वैसे ही है जैसे उडते पक्षी को गोली से गिराने की चेष्टा। अनुभव के ये माने हैं कि जाल बिछाओ, दाना दिखाओ।"

बाबू साहब के पाठको में सर जार्ज भी एक थे। पहला लेख पढा। होठो पर व्यंग्य-पूर्ण मुसकिराहट दौड़ गई। दूसरा पढा। वही रङ्गत रही। तीसरा पढा। चेहरा तमतमा उठा, ख़ून जोश खाने लगा, शासन-गर्व ने क्रोध का जामा पहना। चौथा पढ़ते ही बाछे खिल गई, समझ गये, पहले के तीन लेख तो भूमिका-स्वरूप थे। एक विज्ञ लेखक द्वारा सराहे जाना कोई छोटी बात न थी। व्यंग्य, उपहास, रोष के उबलते स्रोत, सब आत्मगौरव के अथाह सागर मे विलीन हो गये।

बाबू साहब की चाल चल गई। माधुर्य और गाम्भीर्य ने वह किया, जो उग्रता न कर सकती, यानी गवर्नर की नज़रो मे सम्मान-प्राप्ति!

चिडिया ललचाती आँखों से नीचे दाने की ओर देख रही थी। बस, उतरने की देर थी।

(५)

सबसे अधिक हर्ष मि० हृदयनाथ को हुआ। सोचते थे—कौशल मेरा बनाया हुआ आदमी है। वही मेरा विकराल अस्त्र है। मेरे हाथ मे ऐसा अस्त्र है, जिसके सामने विरोधी सेना की कतारे काई की तरह फटती चली जायँगी। उसके द्वारा मैं बडे-बड़े काम कर सकता हूँ। कैसे भावमय लेख हैं। कैसी मीठी-मीठी चुटकियाँ हैं। उन्होने कौशल-किशोर को उसी समय पत्र लिखा और डिनर के लिए निमन्त्रित किया।

कौशलकिशोर गाडी पर से उतरे ही थे कि मि० हृदयनाथ ने बढकर हाथ मिलाया। सुसज्जित 'ड्राइङ्गरूम' में बैठे ही थे। सामने का दर-वाज़ा खुला और एक कामिनी युवती अन्दर दाख़िल हुई। शृङ्गार और सौन्दर्य का ऐसा अनुपम मेल था, रङ्ग और रमणीयता की ऐसी छटा थी कि आँखे बेअख़्तियार खिची जाती थीं। मि० हृदयनाथ ने दोनो का परिचय कराया।

मि० हृदयनाथ ने कहा—"भाई कौशल, तुम्हारे आज के लेख तो अद्वितीय हैं। देखो, क्या रङ्ग लाते है। तुम्हे बधाई देता हूँ। क्यों विमला, तुम्हारी क्या राय है?"

विमला (जो अभी तक लज्जावश सिर झुकाये बैठी थी) बोली—"हाँ, साहित्यिक दृष्टि से तो अच्छे हैं।"

कौशलकिशोर—"मैं आप लोगो का शुक्रिया अदा करता हूँ। मेरे विचार मे तो वे तारीफ के योग्य नहीं हैं।"

"लाला भगतराम अब ढिढोरा पीटते फिरेगे। सर्वसम्मानित बनने का सबसे सहल उपाय है दूसरे की बुराई करते फिरना। देश-भक्ति का राग अलापेगे और प्लेटफार्म पर खड़े होकर उछले-कूदेगे।"

"अगर मैं दरिया मे पैठता हूँ तो मगर से नहीं डरता। शत्रु बलिष्ठ सही, परन्तु हतोत्साह होना कापुरुषता का दूसरा नाम है।"

इसी प्रकार बातें होती रहीं। खाना आया। भोजन के साथ-साथ मज़े-मजे बाते होती जाती थीं। कौशल जब घर चले तो उनके हृदय

मे एक शूल चुभा हुआ था और मीठा-मीठा-सा दर्द हो रहा था। इस दर्द मे हर्ष भी था, वेदना भी थी!

दूसरे दिन पत्रो के ढेर में बाबू कौशलकिशोर को एक सरकारी लिफ़ाफा मिला। यह कोई असाधारण बात न थी, परन्तु लिफ़ाफ़ा हाथ मे लेते ही हृदय वेग से धडकने लगा। काँपते हाथो ने पत्र खोला। यह प्रांतीय सरकार का परवाना था। नई शासन-प्रणाली के अनुसार गवर्नर की सहायता के लिए कई उच्च पदाधिकारियों की आवश्यकता थी। बाबू साहब ऐसे ही एक पद पर नियुक्त किये गये थे। यह हुक्मनामा इसी बात की सूचना थी। उनके सामने एक जटिल समस्या उपस्थित हो गई, सेवा-भाव और सम्मान-प्रियता मे घोर युद्ध छिड़ गया। सामने दो रास्ते खुले थे—एक सेवा-मार्ग, दूसरा शासनाधिकार। एक काँटो से भरा था, दूसरे मे फूल बिछे थे। सेवाभाव कहता था—देश-भक्तो को ऐसे बहुत प्रलोभन दिये जाते हैं। इनमे फँसकर पथ से विच-लित हो जाना सच्चे सिपाही का काम नही। युद्धनीति का तो यही तक़ाज़ा है कि अपनी सारी इच्छाओं और सुखो को देशानुराग की बलि-वेदी पर भेट चढ़ा दो। सम्मान-लोलुपता कहती थी—इन बातो में क्या रक्खा है। अकेला चना कहीं भाड फोड सकता है? मुझे क्या पड़ी है कि दूसरो के पीछे जान दूँ, जब उनकी स्वयं आँखे नहीं खुलतीं। फिर जो बात मित्र बनकर बनती है, वह वैर बढाकर नहीं। पिछली दलील बार-बार सिद्ध हुई। सम्मानप्रियता ने सेवा-भाव को परास्त कर दिया। कौशलकिशोर ने स्वीकृति भेज दी। उनकी दशा उस आदमी की-सी थी, जो आग बुझाने दौडता है, लेकिन रास्ते मे नाच देखने लग जाता है।

(६)

कौशल के हृदय मे प्रेम अंकुरित हुआ। ऐसी सहस्रो भावनाये और सदिच्छाये जग पड़ी जिन्हे जवानी साथ लाती है। वह विमला के पीछे वैसे ही लगे रहते थे जैसे पालतू हिरन शिकारी के पीछे फिरा

करता है। कौशल भरसक प्रेम की आग हृदय मे दबाये रखने का प्रयत्न करते थे।

परन्तु मौन ही प्रेम की सरस भाषा है, सतृष्ण दृष्टि ही उसकी वर्णन-शैली है। विमला इस प्रेम-कथा से बेख़बर न थी। वह स्वभाव ही से विरहिणी थी। परन्तु प्रेम-व्यथा तब कल्पित थी, अब प्रत्यक्ष। वह वाटिका में प्रेमाभिनय देखा करती, जहाँ चन्द्रिका की शीतल किरणे कुण्ड के जल से प्रेम-क्रीड़ा करती हैं; जहाँ लतिकायें वृक्षो को करपाश में बाँधे प्रेमोन्मत्त हो-होकर झूमती हैं; जहाँ बुलबुलें रो-रोकर विरह-कथा गाती और फूल हँस-हँसकर उनका उपहास करते हैं, जहाँ भौंरे प्रेम-राग गाते हैं, पुष्पो से अनुनय करते हैं और पुष्प सिर हिला-हिलाकर कहते हैं–

'तुम बने हुए ठग हो, रस रहे के मीत।'

फागुन की सोहावनी रात थी। चन्द्रिका की चादर बिछी हुई थी। मधुर, वसन्ती वायु चल रहा था। कौशल मोटर से उतरे और सीधे बाग़ मे गये। उन्हे मालूम था कि विमला इस समय वहाँ होगी। वह इरादा करके चले थे कि आज दुबिधा का अन्त कर दूँगा। इधर-उधर देखा, विमला दिखाई न दी। आगे बढे। बाग़ के बीच में बेलो से ढका हुआ एक कुञ्ज था। इस कुञ्ज में एक बेंच पर बैठी हुई विमला प्रकृति की छवि देख रही थी। चाँदनी छन-छनकर कुञ्ज मे प्रकाश फैला रही थी।

कौशल ने कहा—"विमला, तुम पूरी तपस्विनी हो। मुझे तो अगर दस मिनट भी अकेले बैठना पडे तो जी घबरा जाय।"

"ख़ैर, यह तो आपकी बातें है लेकिन मुझे तो इस नीरवता से बढकर कुछ भी पसन्द नहीं।"

"तो फिर मेरा आना तो तुम्हे जरूर बुरा लगा होगा?"

विमला ने झेपकर कहा—"नहीं, हरगिज़ नहीं।"

"नहीं, यह तो तुम बाते बना रही हो।"

"नहीं, सच कहती हूँ।"

"विमला, तुमने शायराना तबीयत पाई है। एक मुशकिल है, हल कर दो। अगर किसी को किसी से प्रेम हो तो वह क्या करे?"

"भेद छिपाये रहे।"

"अगर छिपा न सके तो?"

"तो दीवार से सिर टकराकर जान दे दे।"

"अगर यह भी न हो सके तो?"

"तो पहाड और जङ्गलो की ख़ाक छाने।"

"अगर वहाँ भी ठिकाना न मिले तो!

विमला ने मुसकिराकर कहा—"इसके आगे मेरी बुद्धि काम नहीं देती।"

"नहीं, बुद्धि काम दे रही है। तुम कहो या न कहो, तुम्हारी शरमीली आँखे साफ बता रही हैं कि तुम बता सकती हो, परन्तु बताना नहीं चाहतीं। विमला, मै आज तक प्रेम का भेद छिपाये हुए था। लेकिन आज मेरे सन्तोष का बाँध टूट गया है, अब मै सब्र नहीं कर सकता।"

विमला लज्जा से गडी जाती थी। उसे डर लग रहा था कि ये महाशय इतनी लम्बी भूमिका क्यो बाँध रहे है। अब ज्ञात हुआ कि शङ्का निर्मूल न थी। वह बडे असमञ्जस मे पडी हुई थी। कुछ समझ मे न आता था कि क्या करे। उसके हृदय के एक एक तार से इन शुभ्र कामनाओ की, इस मधुर सगीत की प्रतिध्वनि निकल रही थी। परन्तु स्वाभाविक लज्जा वाणी-हरण कर लेती है। उसकी दशा कवि-सम्मेलन मे बैठे हुए उस काव्य-रसज्ञ श्रोता की-सी थी जिसके पास तारीफ के लिए शब्द न हो। परन्तु इस समय उसका बाह्य स्वरूप उसकी आन्तरिक शुभेच्छाओ का प्रतिबिम्ब हो रहा था। ऐसा जान पडता था मानो किसी कुशल चित्रकार ने माधुर्य-पूर्ण समर्पण का सुन्दर चित्र अल-कृत कर दिया हो।

कौशल समझ गये कि मैदान मेरे हाथ है।

मि० हृदयनाथ उन शुष्क, सङ्कीर्ण-हृदय लोगों में न थे जिन्हे दो प्राणियों का जीवन-सर्वस्व सुख नष्ट कर देने मे ही विशेष आनन्द मिलता है। बाबू कौशलकिशोर सुयोग्य पात्र थे—जनता के सम्मानित नेता और एक उच्च पदाधिकारी। उन्हे कोई आपत्ति न थी। और फिर, अपने हाथ की लाठी जितनी मज़बूती से अपने हाथ में हो, उतना ही अच्छा। विमला और कौशल का विवाह हो गया।

(७)

अधिकार और वासना का चोली-दामन का साथ है। अधिकार पाना और यह इच्छा रखना कि विलासिता से दूर रहे वैसा ही है जैसे आग मे हाथ डालना और आशा करना कि आँच न लगे।

प्रेम की पहली रफ्तार बरसात की बाढ होती है, जाडो का सुगठित प्रवाह नहीं। विमला कौशल के गले का हार बनी हुई थी। क्षण-भर की जुदाई भी असह्य हो जाती थी। एक दिन कौशल को सरकारी काम के कारण घर आने में देर हो गई। विमला ने रो-रोकर आँखे सुजा लीं—"उन्हे किसी की क्या पडी है ? कोई मरे या जिये, अपने काम से काम। जब देखो, काम का बहाना करते हैं। समझते हैं, मै जानती ही नहीं। काम क्या करते होंगे पत्थर! बैठे-बैठे साहबो से गप्पे लडा रहे होंगे। बातूनी आदमी तो हैं ही, जहाँ चिमट गये वहीं के हो रहे। आज कितना भी बुलावेंगे, न बोलूँगी!"

कौशल आये तो ऐसे सहमे हुए जैसे कुसूरवार बालक। देखा, देवी रूठी हुई हैं। पुकारा—"विमला!"

विमला ने कोई उत्तर न दिया। कौशल ने पीछे से जाकर विमला के कन्धे पर हाथ रख दिया। विमला ने हाथ झटक दिया। कौशल समझ गये। भरी बैठी है, ज्यादा छेड़ूँगा तो आँखो द्वारा बरस पडेगी। उलटे-पाँव फिरे और सोचने लगे कि क्या उपाय करूँ।

कौशल सिर पर कपडा लपेटे पलँग पर पडे थे। सिर में दर्द हो रहा था। आँखें बन्द कर ली। कुछ नींद-सी आ गई। उन्हे ऐसा

जान पडा, जैसे किसी ने सिर की पट्टी खोली और धीरे-धीरे माथा दबाना शुरू किया। मृदुल स्पर्श ने कौशल की निद्रा उचटा दी। कौशल ने आँखें खोल दी। विमला वेदना-पूर्ण सजल नेत्रो से देख रही थी। इन आँखों में मान नही, विनय थी।

दाम्पत्य-जीवन का सुखद समय इसी प्रकार धीरे-धीरे बीतने लगा। नदी की बाढ भी शनैः-शनैः घटने लगी। प्रेम के मधुर प्रवाह मे अब वह पहले की तेज़ी न रह गई थी। कौशल बडी रात तक ग़ायब रहने लगे। उन्हे अफसरी के मज़े मिलने लगे। रईसो की बडी-बडी दावतो, जल्सो और नाच-रङ्गो मे जो आनन्द मिलता था, वह घर के सरल प्रेम में कहाँ! अब उनका अधिक समय रङ्गरेलियो में ही कटता था।

विमला को कुछ समय तक दुःख अवश्य हुआ। एकान्त काटे खाता था। उसका दिल अब भी भरा हुआ दरिया था। उसमें अब भी वैसी ही तरङ्गे उठती थीं, वासना वैसा ही ज़ोर मारती थी, विरह-व्यथा वैसे ही सताती थी। परन्तु कोई इलाज न था।

इसी समय कौशल के यहाँ एक मेहमान आये।

(८)

कौशल के मेहमान बाबू अनूपराय एक बिगडे हुए रईस थे। आपको राग-रङ्ग से विशेष प्रेम था। कविता भी थोडी-बहुत कर लेते थे। पैतृक ज़मींदारी का विशेष भाग आपने रसिकता की नज़र कर दिया था। रागियो और गवैयो की नाज़बरदारी आपके जीवन का प्रधान उद्देश्य था। आप एक सजीले जवान थे। हृदय काव्य के ललित उद्‌गारो से परिपूर्ण था और बाह्य स्वरूप काव्यमय कोमलता मे रँगा हुआ। आप सौन्दर्य के परम उपासक भी थे।

मेहमान के आदर-सत्कार का भार विमला पर पड़ा। वह उनकी पूरी ख़ातिर करती थी।

अनूपराय बाँसुरी अच्छी बजा लेते थे। रात्रि की नीरवता मे बाँसुरी की मधुर ध्वनि दिशाओं मे गूँज-गूँजकर एक विचित्र हलचल मचा देती

थी। उसकी लय मे किसी विरह-पीडित प्राणी के प्रेमोद्गार नृत्य करते जान पड़ते थे। विमला का हृदय तड़प जाता था। उसका जी चाहता था कि चलकर अभी उस चतुर रागी के चरणों पर गिर पड़ूँ और उन्हे आँसुओं से भिगो दूँ। परन्तु लज्जा पैर की बेडी थी।

अनूपराय विमला को अपनी काव्य-रचनाये सुनाया करते थे। उनकी रचनायें शृङ्गार और प्रेम-रस में डूबी हुई होती थीं। विरह-व्यथित व्यक्ति के साथ प्रेम-चर्चा वही काम करती है जो कि आग के साथ घी। विमला का हृदय मन्त्रमुग्ध सा हो जाता था।

आधी रात बीत चुकी थी। कौशल अभी एक प्रीति-भोज से लौटे थे। विमला के कमरे में गये। कमरे के सारे किवाड लौटे खुले हुए थे। बिजली के प्रकाश से कमरा जगमगा रहा था। उनका ख़याल था कि विमला सो रही होगी, परन्तु उसका वहाँ पता न था। सहसा बाग़ से बाँसुरी की आवाज़ आनी शुरू हुई। इतनी रात गये वाटिका में कौन बाँसुरी बजा रहा है? पूर्णिमा का दिन था। बाग़ ऐसा जान पडता था, मानो किसी कवि का मधुर स्वप्न चित्रित कर दिया गया हो। बाँसुरी उसी कुञ्ज मे बज रही थी। अनूपराय सङ्गीत-सुधा बरसा रहे थे और विमला सुधा-पान कर रही थी। जादू चल गया। एकाएक बाँसुरी रुकी। अनूप ने विमला का कोमल कर अपने हाथो मे ले लिया। विमला वैसी ही मन्त्रमुग्ध बनी बैठी रही। अनूप ने साहस करके उसका हाथ चूम लिया। अधरों के गरम स्पर्श ने विमला को सचेत कर दिया, मानो किसी रसिक सोनेवाले का सुन्दर स्वप्न खिडकी से आनेवाली सूर्य की किरणों ने तोड दिया हो। उसने हाथ छुडा लिया। आँख उठाकर देखा, कुञ्ज के द्वार पर कौशल क्रोध की मूर्ति बने खड़े है। विमला पर वज्रपात-सा हुआ, जैसे किसी ने छत से उठाकर नीचे फेक दिया हो।

कौशल के मुख से एक शब्द भी न निकला। परन्तु अन्दर क्रोध की ज्वाला दहक रही थी। वे सोचने लगे—ऐसी कुटिलता, ऐसा

छिछोरापन ! जी चाहता है, इस पतिता स्त्री को भूमि पर लिटा दूॅ और रिवाल्वर की एक गोली से अपना भेजा भी उडा दूॅ। परन्तु किसके लिए प्राण दूॅ ! उसके लिए जो मेरे गले पर छुरी चलावे ! उस नागिन के लिए जो मुझको ही डसे ! उस शरीफ बदमाश को देखो। भला-मानस बना घूमता है। मै इस विश्वासघात का मज़ा चखाऊँगा। और वह कुटिला स्त्री। उसे मै सदा के लिए त्याग दूॅगा। क्रोध के आवेग मे कौशल घर से बाहर निकल गये।

विमला क्षोभ और ग्लानि की मूर्ति बनी हुई थी। उसकी आत्मा उसे धिक्कार रही थी—तू पतित है, चरित्र-हीन है। तू वासना के हाथ ऐसी बिक गई कि तुझे खरे-खोटे की पहचान न रही। तूने अपने हाथो अपनी राह मे कॉंटे बोये। अब जैसा बोया वैसा काट। अभागिन, तुझे संसार मे जगह नहीं।

विशाल वृक्षों ने सिर हिला-हिलाकर कहा—"तेरे लिए संसार मे जगह नही।" वायु ने मुॅह चिढाकर कहा—"तेरे लिए संसार मे जगह नही।" स्वयं उसके मन ने कहा—"तेरे लिए संसार मे जगह नहीं।" विमला मर्माहत हो गई। यह आखरी चोट बडी तीव्र थी। जिस चञ्चल मन ने उसे गुमराह किया वही उसका उपहास करे। हॉं, सचमुच अब उसके लिए ससार मे जगह नही।

(९)

राख आग पर परदा ज़रूर डाल देती है, पर बुझा नहीं सकती। प्रेम आग है और वासना राख। अज्ञात अवस्था मे वासना कालिमा का गाढ़ा परदा अवश्य चढा देती है, परन्तु आत्मग्लानि द्वारा प्राप्त हुई चेतना का हलका सा झोंका प्रेम से वासना का परदा वैसे ही हटा देता है। जैसे वह शीशा जिस पर गर्द जमी हो एक रगड मे पुनः उज्ज्वल हो जाता है। विमला की आँखें खुल गईं, प्रेम की निर्मल उज्ज्वल सरिता फिर वैसे ही हिलोरें लेने लगी। सोचने लगी—वे मुझसे कितना प्रेम करते थे। मैंने स्वयं अपने हाथो अपना सर्वनाश किया।

मै क्या जानती थी कि जो चीज़ पोषक होती है वही घातक भी हो सकती है। मेरे सौंदर्य ने मुझे साँप बनकर डसा। अगर मै सुन्दरी न होती तो चरित्र-हीन लोग मेरे पीछे क्यो पडते? क्या प्राण दे दूँ? परन्तु मरकर क्या नरक-यातना से बच जाऊँगी? नहीं, मेरे पाप का यह प्रायश्चित्त नहीं। जो वस्तु मेरे पतन का कारण बनी उसी को नष्ट कर दूँगी। विमला उसी आवेश मे उठी। कमरे मे गई। आलमारी से एक बोतल निकाली। बोतल की चीज़ को एक प्याले मे उँडेला और उसी से चेहरा धोने लगी। बोतल में तेजाब थी। विमला का मुँह झुलस गया, जैसे चन्द्रमा पर काली घटा छा गई हो।

कौशल सारी रात पार्क की एक बेंच पर पडे रहे। क्रोध ठण्डा हो गया। मन में तर्क-वितर्क आरम्भ हुआ—इसमे विमला का कोई क़सूर नहीं। यह विष मेरा ही बोया हुआ है। पति का काम है स्त्री की रक्षा करे। मै विषय-वासना का दास था। मुझे अपनी रङ्गरेलियो से कब फ़ुर्सत थी कि उसकी ख़बर लेता। मेरी सम्मान-लिप्सा ने मुझे कहीं का न रक्खा। जनता मे बदनाम हुआ। जिधर से निकलता हूँ, बौछारे पडती हैं। मेरा जीवन लक्ष्यहीन था, इसी से मेरी लुटिया डूबी। अच्छा, अब से सरल जीवन बिताऊँगा। कहीं गाँव मे चलकर कुटिया बनाऊँगा, और वहीं रहूँगा। विमला से अपराध अवश्य हुआ, परन्तु अनजान में। अगर वह दोषी है तो मै भी हूँ। मनुष्य मे उदारता बडा गुण है। मैं उसे क्षमा कर दूँगा।

दिन भर कौशल जन-शून्य स्थानो मे बौखलाये-से घूमते रहे। गोधूलि के समय उन्होंने घर की राह ली। नील आकाश मे असंख्य तारे जगमगा रहे थे। वे अँधेरी गलियो से होते हुए लोगो की नजर बचाते चले जा रहे थे। घर में प्रवेश किया; परन्तु वैसे ही, जैसे चोर दूसरे के घर मे घुसता है। वे छिपकर देखना चाहते थे कि विमला क्या कर रही है। विमला के कमरे का द्वार खुला हुआ था। विमला अकेली, उदास मन मारे बैठी थी। चेहरे पर फफोले पड गये थे और

काली-काली चित्तियाँ भी। कौशल अन्दर न जा सके। वे विजेता की भाँति जाना चाहते थे, परन्तु अपनी क्षुद्रता साफ़ दिखाई देती थी—"ऐसा महान् त्याग! जिस सौंदर्य के लिए लोग औषधियो का सेवन करते फिरते हैं, साबुन और पाउडर की शरण लेते हैं, उसका यो त्याग। वह कैसी महान् आत्मा है और मैं कैसा नीच—कैसा ओछा—हूँ। मैं इतनी छोटी-सी बात पर बदगुमान हो गया। कौन जानता है, मेरी आँखो ने धोखा खाया हो।"

कौशल स्वयं अपनी नज़रो में गिर गये। जी चाहता था, चलकर विमला के क़दमो पर गिर पड़ें, परन्तु मिथ्याभिमान रास्ते का काँटा था। वे लौट पडे। उनके ही घर का द्वार उनके लिए बन्द हो गया। उनकी दशा उस मनुष्य की-सी थी जो उदारता के आवेश मे योगी की कुटिया मे दान देने जाता है, परन्तु तपस्वी का आध्यात्मिक वैभव देख ठिठककर रह जाता है।

(१०)

कौशल लौटने को तो लौट पडे, परन्तु अभी फाटक से बाहर ही निकले थे कि पश्चात्ताप ने फिर आ घेरा—"मैं विमला के साथ कितना बडा अन्याय कर रहा हूँ। मेरी यह हृदय-शून्यता उसके जले हृदय पर नमक का काम करेगी। जब उसे प्रणय की अभिलाषा थी, तब मै हृदय-हीन बना रहा। आज उसे करुणा की आवश्यकता है, तो मैं सङ्कोच मे पडा हुआ हूँ। क्या अभी तक कम गिरा हूँ जो और गिर जाऊँगा? बुद्धि और विवेक को, मुद्दत हुई, तिलाञ्जलि दे चुका हूँ। अब यह उसके पीछे लठ लेकर फिरना है। विमला को पहले रक्षा की ज़रूरत थी, परन्तु अब उससे अधिक मुझे आवश्यकता है।"

कौशल फिर अन्दर लौट गये। कोई अज्ञात शक्ति, कोई विकल प्रेरणा उन्हे ज़बरदस्ती खींचे लिये जाती थी। विमला के द्वार पर जाकर रुके, फिर साहस करके अन्दर गये। विमला चद्दर ओढे पलॅग पर पडी थी, असह्य जलन के कारण मूर्च्छा-सी आ गई थी। कौशल

सिरहाने बैठ गये और उसके मुख पर से चद्दर उठा दी। फिर उसके बिखरे बाल सुलझाते हुए मृदु स्वर मे पुकारा—"विमला!"

विमला चौंक पड़ी और आँखे खोल दीं। कौशल के प्रेमातुर नयन उसके चेहरे पर झुके हुए थे। उनमें कितना माधुर्य था, कितनी करुणा थी। उसके कलेजे पर वज्राघात-सा हो रहा था। मरीज़ को कड़ुई दवा की ज़रूरत होती है, मीठे शर्बत की नहीं। उसे इस समय तिरस्कार की आवश्यकता थी, कोमल व्यवहार की नहीं। उसका हृदय कटु-वाक्य माँग रहा था, मीठे शब्द नहीं। उसका हृदय उमड आया, कण्ठ अवरुद्ध हो गया. आँखों ने आँसुओं के तार बाँध दिये। ये आँसू न थे, तडपते हुए हृदय के उद्गार थे। इनमें प्रेम का ललित निश्शब्द सङ्गीत-नृत्य कर रहा था। नदी ने फिर बाँध तोड दिया।

——

सावित्री का साहस

(१)

बडी अभागी थी सावित्री। एक सम्पन्न घराने में उसने जन्म लिया था और उसका विवाह भी एक सम्पन्न कुटुम्ब मे हुआ था। किन्तु एक कुमार्गगामी पति की वह पत्नी थी। उसके श्वशुर कई हजार नक़द, तीन मकान और एक चलती हुई दुकान छोड़कर मरे थे; किन्तु दो साल के भीतर ही नक़्द उड गया, दूकान बन्द हो गई, दो मकान बिक गये और तीसरा गिरवी हो गया। और उसके पति के पास उसके लिए ताडना के अतिरिक्त और कुछ न था। सावित्री के दुःख का वारापार न था।

दिन का तीसरा पहर था। अपने सूने घर में अपने मैले फटे बिस्तरे पर पडी हुई सावित्री आहे भर रही थी। एक हृदयद्रावक दृश्य उसकी आँखों के सामने आया। रात्रि का समय था। चिर-निद्रा में निमग्न

होने के निमित्त अफ़ीम की गोली खाकर सावित्री की सास मृत्युशय्या पर पड़ी हुई थी। अफीम अपने ध्वंसात्मक कार्य मे लगी हुई थी, किन्तु चेतना का छोर अभी उसके हाथ से नही छूटा था। उसने सावित्री को आवाज़ दी। सावित्री जब उसके समीप गई तो उसने कहा—"इस संसार......मे अब......मुझे रहने की इच्छा......नही है......इसलिए मैं..... यहाँ से जा......रही हूँ।" आश्चर्य से चकित होकर सावित्री ने कहा था, "कैसी बाते कर रही हो अम्मा जी!" शान्त भाव से सास बोली, "मैंने बहुत-सी अफीम......खा ली है......और थोड़ी.. ... देर की .....मेहमान हूँ.. बडी-बडी मानताये .....मानने के बाद... मैंने एक पुत्र......पाया और ...आवारा निकला......जिसे मैंने ......अपनी कोख से......जन्म दिय. .और बड़े लाड़ प्यार.. ...से पाला......उसी के हाथो से......मार खाने के लिए.. ...अब मै तैयार नही हूँ......इसी के कारण......इसके बाप की......जान गई..... मै समझती थी कि......इसे सुधार सकूँगी......इसी लिए अब तक.. .. जीती थी......इसे सुधार नही सकी......अब मर जाना ही..... ठीक है.. ...मेरे बाद तेरी क्या दशा होगी, बेटी ......खैर, ईश्वर तेरी रक्षा करे......यह थैली ले......इसमे पाँच हज़ार रुपये है......तेरे निर्वाह के लिए......इतना काफ़ी है......जब तक भगवानदास......अपनी चाल न बदले .....उसे इसमे से... · कुछ न देना।" तब सास के पैर पकड़कर, सावित्री बिलख-बिलखकर रोने लगी।

आँसुओ की बाढ़ में वह करुण दृश्य डूब गया। उसका प्रताडित हृदय उस स्नेहमयी सास के लिए चीत्कार करने लगा जिसके सहारे जीवन की यातनाओ को वह हँसते-हँसते झेल लेती थी। मनोवेदना के भार के नीचे दबी हुई उसकी आत्मा क्षुब्ध पडी थी।

आये दिन की इन यातनाओ से वह शारीरिक मुक्ति पा सकती थी। सास के देहावसान के बाद कई बार मायके से बुलावा आया। किन्तु युग-युग के सस्कारो मे पली हुई वह अबला हिन्दू नारी कर्तव्य के कठोर

पथ से विचलित नहीं हुई। उसका पति पथ-भ्रष्ट अवश्य था, किन्तु उसे उसकी ज़रूरत थी। सावित्री अच्छी तरह जानती थी कि यदि उस नासमझ पति की देख रेख न की गई तो वह उस अन्धे कुएँ से कभी न निकल सकेगा जिसमें वह स्वय कूद पडा था। फिर उसे छोडकर वह कैसे चली जाती ?

आँखों के आँसू सूख चुके थे। वह निश्चेष्ट पडी हुई थी। सहसा किसी ने घर का दरवाज़ा खटखटाया। वह चौक पड़ी। कौन दर-वाज़ा खटखटा रहा है ? वे तो नही मालूम होते ? देखना चाहिए कौन है। वह उठकर बन्द दरवाज़े की ओर चली।

साँकल फिर खडखडा उठी। उसने दरवाज़ा खोला। सामने कामताप्रसाद खडा था—वही जो उसके पति का पथ-प्रदर्शक था। उसकी ओर देखकर वह ज़मीन की ओर ताकने लगी। उसका चेहरा क्रोध से तमातमा उठा। मुस्कराता हुआ वह घर मे घुसने लगा। सावित्री हटकर दीवार के सहारे खडी हो गई। भीतर पहुँचकर, दरवाज़ा भेडकर, उसकी ओर सतृष्ण दृष्टि मे देखता हुआ कामताप्रसाद बोला—रामदास कहाँ हैं ?

"वे घर मे नहीं हैं।"

"ख़ैर, मैं उनसे मिलने के लिए नही, तुमसे दो बातें करने आया हूँ।"

"मुझसे आपका क्या मतलब है ?" रोष तथा घृणा से भरे हुए स्वर में वह तुरन्त बोली।

"सावित्री, मैं तुम्हें दिल से प्यार करता हूँ। अकसर इसी उमीद में मैं यहाँ आता हूँ कि शायद अपने दिल का हाल कहने का मौका मिल जाय, लेकिन तुम तो..... !"

"चाण्डाल ! हत्यारे ! दूर हो यहाँ से।"

"तुम ग़ज़ब की हसीन हो और मै तुम्हे सच्चे दिल से प्यार करता हूँ। अगर तुम मुझे अपने जूते से मारो तो भी मै चूँ न करूँगा।"

"निकल यहाँ से, निकल, नहीं तो अभी शोर कर दूँगी।"

"अच्छा, लो, सरकार, जाता हूँ। लेकिन याद रखना, ये नख़रे बहुत दिनों तक न चल सकेंगे।" दरवाज़ा खोलकर वह मुस्कराता हुआ चला गया।

"चाण्डाल! हत्यारा! पापी!" काँपते हुए हाथों से उसने दरवाज़ा बन्द किया और काँपते हुए शरीर को सँभालती हुई वह मुड़कर भीतर चली। अपने बिस्तरे के समीप पहुँचकर वह उस पर गिर पड़ी और फफक-फफककर रोने लगी। आज यदि उसकी वह स्नेहमयी सास जीवित होती तो क्या वह दुष्ट उसे इस तरह अपमानित कर पाता?

(२)

आधी रात बीत चुकी थी। *वायुमण्डल में निःस्तब्धता व्याप्त थी।* केवल शिकार की तलाश में उड़ते हुए उलूकों की कर्ण-कटु चीख़, रखवाली करते हुए कुत्तों के भूँकने की कर्कश ध्वनि और पुलिस की ऊँघती हुई सीटियाँ रह-रहकर सुनाई दे जाती थीं। उसके पड़ोसी सो रहे थे, किन्तु सावित्री की आँखों में नींद न थी। जहाँ विकल विचारों की धूम हो वहाँ नींद कहाँ? नौ बजे ही वह खाना बना चुकी थी, किन्तु बिना पति को खिलाये वह कैसे भोजन करती? पहाड़-सी प्रतीक्षा के पल-पल गिनती हुई, आँगन में चारपाई पर पड़ी हुई, वह करवटें बदल रही थी।

आख़िर एक घण्टे के बाद वह आया। सावित्री ने दरवाज़ा खोला। लड़खड़ाता हुआ रामदास भीतर गया और चारपाई पर अस्त-व्यस्त लेट गया। दरवाज़ा बन्द करके वह चारपाई के समीप जाकर खड़ी हो गई।

"खाना परसूँ?"

"नहीं।"

"क्यों?"

"मैं......खाना,.....खा चुका हूँ।"

"कहाँ खाया ?"

"एक..... दोस्त .....के यहाँ।"

"बाहर खाना हो तो कह दिया करो। फिज़ूल खाना ख़राब करने से क्या फ़ायदा ?"

"अच्छा, बक-बक मत करो। पानी पिलाओ।"

बड़बड़ाती हुई सावित्री पानी लाने चली गई।

शीतल जल से भरा हुआ गिलास लेकर वह चारपाई के समीप आई। उठकर, जल पीकर, वह फिर लेट गया।

"तुमने... ..खाना खाया......कि नहीं ?"

"नहीं।"

"अच्छा......जाकर खा लो।"

" मै न खाऊँगी।"

"क्यो ?"

"यो ही पेट भरा है, खाने की क्या ज़रूरत है ?"

"अच्छी......बात है...न खाओ......न खाओगी...तो मेरा क्या बिगड़ेगा ?"

"हाँ, तुम्हारा क्या बिगड़ेगा ? मैं तुम्हारी कौन हूँ ?"

"मुझे . ...मिज़ाज न दिखाया कर..... चुडै़ल कहीं...की !"

"मुझे मौत भी नहीं आती। इनका यह हाल है और इनके दोस्त मेरी इज्ज़त लेने पर तुले हैं।"

"कैसी . ...बाते करती है ! . कौन तेरी...इज्ज़त ले रहा है ?"

"वही कामता, जिससे तुम्हारी दाँत काटे की रोटी है। तुम्हारे जाने के बाद आज वह आया और मुझे छेड़ने लगा। मैंने जब उसे डाँटा तब वह यहाँ से टला।"

"कामता..... तो...ऐसा आदमी नहीं है।"

"तो क्या मैं झूठ कह रही हूँ ?"

"मुझे.........विश्वास...नहीं .....होता।"

"तुम्हें क्यों विश्वास होने लगा ?"

"इस...में तेरी...कोई चाल...मालूम होती है...तू चाहती है...कि कामता से मेरी दोस्ती...टूट जाय ।"

"इससे ज़्यादा तुम क्या सोच सकते हो ? तुम्हारी अक़िल पर तो पत्थर पड गया है ।"

"हरामज़ादी ! चुड़ैल ! ज़बान...चलाना बन्द......कर, नहीं तो ...अभी खाल...खींच लूँगा ।"

"खींच लो । मै तो चाहती ही हूँ कि तुम मुझे मार डालो ।"

"तो...फिर...ले...लुच्ची ।" वह उछलकर चारपाई से उतरा और सावित्री के ऊपर घूसों और थप्पडो की वर्षा करने लगा ।

"और मार और मार !" कहती हुई, सावित्री निश्चल खडी रही । वह न रोई न चिल्लाई ।

थककर वह चारपाई पर बैठ गया और गालियाँ बकने लगा । धीरे-धीरे दालान मे जाकर सावित्री फर्श पर लेट गई और चुपचाप आँसू बहाने लगी ।

जेब से अद्धा निकालकर, थोडी-सी शराब पीकर, वह लेट गया । एकाएक उबकाई आई और वह क़ै करने लगा । सावित्री पडी न रह सकी । उठकर एक लोटे मे पानी लेकर वह उसके समीप गई और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगी ।

पति का मुँह धुलाकर और उसे पान देकर वह सफ़ाई करने लगी । सफ़ाई कर चुकने के बाद, पति का कन्धा हिलाकर, उसने कहा— ऊपर चलो ।

"नहीं...यहीं...रहूँगा ।"

"नही, चलो, छत पर ज़्यादा आराम मिलेगा ।"

"अच्छा, चलो ।"

किसी तरह पत्नी की सहायता से ऊपर पहुँचकर वह पलँग पर लेट गया । सावित्री उसके पैर दाबने लगी । उस समय उसके प्रताड़ित

स्त्रीत्व की सारी चेष्टा उस अनुभवहीन पति की सेवा में केन्द्रित हो गई थी।

(३)

कई दिन बीत गये। सावित्री की अनेक चिन्ताओं मे एक की वृद्धि हो गई थी। वह थी सतीत्व-रक्षा की चिन्ता। जिस पर उसकी रक्षा का गुरुतर उत्तरदायित्व था वह उससे मुख मोड चुका था। तब क्या करना होगा?

रात का समय था। कड़ी गरमी थी। आँगन मे चारपाई पर पडी हुई सावित्री पङ्खा झल रही थी। वह विचारों मे मग्न थी। विकट समस्या सामने उपस्थित थी। कामताप्रसाद फिर आया तो क्या होगा? रक्षा का एक उपाय था जो उसे पसन्द था। किन्तु कितना विकट था वह उपाय! झुककर चारपाई के नीचे से उसने कोई चीज़ उठाई। निर्मल चाँदनी मे एक बडी छुरी चमक उठी। सन्तोष की दृष्टि से वह उसे ध्यान से देखने लगी। इस उपाय की भयङ्करता के कारण क्या वह इससे काम न लेगी? नहीं...हाँ......नही ..!

कई घण्टे बीत गये। वायुमण्डल में निःस्तब्धता आने लगी। एकाएक किसी ने दरवाज़े पर थपकियाँ लगाईं। सावित्री का ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ।

"कौन है?"

कोई जवाब नहीं मिला। दो तीन क्षण के बाद थपकियाँ फिर सुनाई दीं। उसने फिर पूछा—कौन है?

फिर कोई जवाब नहीं मिला और, कुछ क्षण के बाद, फिर थपकियाँ सुनाई पडी। उठकर देखना चाहिए! न जाने कौन है। कोई भी हो, देखना चाहिए। डर किस बात का है जब तक..... !

तब, उठकर, उसने दरवाज़ा खोला। नशे मे बदमस्त कामता-प्रसाद तुरन्त घर में घुसने लगा।

"हाँ, हाँ। कहाँ घुस आते हो? यहाँ क्या काम है? बाहर रहो, बाहर रहो।"

किन्तु वह भीतर घुस आया। तब वह आँगन की ओर भागी। चारपाई के समीप पहुँचकर, छुरी उठाकर, पीछे छिपाकर वह तनकर खडी हो गई। कामताप्रसाद झूमता हुआ उसके सामने आया। मुस्कराकर उसने कहा—भागती..... क्यो हो......सावित्री? मैं... तुम्हे खा .. न जाऊँगा।

"तुझे शर्म नहीं आती! क्या तेरे माँ-बहिन नहीं हैं?"

"हा......हा...हा...हा... ! यह......पुराना विचार...... छोड़ो...अब नया......ज़माना है...और सब.. को प्रेम......करने की पूरी...आ...आज़ादी है।"

"बस ज़बान बन्द कर। मैं और कुछ सुनना नहीं चाहती। यहाँ से फौरन दूर हो, नहीं तो..... "

"नहीं तो..... हा-हा-हा-हा·· हा......प्यारी...प्यारी!" और दोनो हाथ फैलाकर वह उसकी ओर बढा।

"दूर रह, चाण्डाल, दूर रह" कहती हुई सावित्री पीछे हटने लगी।

कामता ने लपक कर सावित्री का हाथ पकड लिया। झटका देकर, हाथ छुडाकर, वह दूर हट गई। किन्तु वह तुरन्त झपटकर उसके समीप पहुँच गया और उसे पकड़ने की कोशिश करने लगा। तब विवश होकर सावित्री ने वार कर दिया। छुरी चमकी और कामता के सीने मे घुस गई।

"अरे, मार डाला! मार...!" कटे हुए वृक्ष की भाँति वह आँगन के फ़र्श पर ढेर हो गया।

आँखे फाडकर, झुककर, वह उसे देखने लगी। उसका सिर घूमने लगा। वह बाहर की ओर भागी। घर के बाहर वह जड़वत् खडी हो गई। दम घुटता हुआ जान पडा। तब वह चिल्लाने लगी—

"दौडो, दौड़ो! ख़ून, ख़ून!"

कई आदमी उसके सामने आये। वह अचेत होकर गिर पड़ी। सावित्री को देख-देखकर वे एक दूसरे से प्रश्न करने लगे। शोर होने लगा। देखते-देखते ख़ासी भीड़ जमा हो गई।

आध घण्टे में पुलिस आ पहुँची। कामताप्रसाद मरा न था। वह तुरन्त अस्पताल भेजा गया। लोगों के बयान लिखे गये। सावित्री सचेत हो गई। किन्तु वह किसी के प्रश्न का कोई उत्तर न दे सकी।

सावित्री को हिरासत में लेकर पुलिस चली गई। उस अभागे घर के दरवाज़े पर ताला लटकने लगा।

(४)

अस्पताल में कामताप्रसाद की पूरी सेवा-शुश्रूषा की गई, किन्तु उसकी हालत बिगड़ती ही गई। कई घण्टे बाद जब उसे होश आया तो असीम मानसिक तथा शारीरिक वेदना के भाव उसके मुखमण्डल पर व्यक्त थे। एक मजिस्ट्रेट ने उसका अन्तिम बयान लिया। अपने बयान में उसने कहा—काम से...अन्धा होकर...मैं सावित्री के...घर गया था...उसने...मुझे डाँटा...और घर से...निकल जाने...को कहा... लेकिन ..मैं...उसकी ओर...बढ़ा...वह पीछे हट गई...मैंने उसका... हाथ पकड़ लिया.. हाथ छुड़ाकर...वह हट गई... ..उसने...मुझे छुरी दिखलाई...लेकिन कुछ परवा...न करके...मैं उसे पकड़ने...की कोशिश करने लगा ..एकाएक फिसलकर ..मैं उसके ऊपर गिरा...और छुरी मेरे...सीने में...घुस गई...ग़लती सरासर.. मेरी थी...सावित्री बिलकुल... निर्दोष है।

बयान देने के बाद वह फिर बेहोश हो गया और एक घण्टे के बाद उसका देहान्त हो गया।

दूसरे दिन सावित्री से मिलने के लिए रामदास जेल में उपस्थित हुआ। इस समय वह नशे में न था। सावित्री मुस्कराती हुई उसके सामने आई। पूर्ण शान्ति उसके चेहरे पर खेल रही थी। उसे देखकर रामदास की आँखों में आँसू छलक आये।

"अब तो तुम्हे विश्वास हो गया!" सावित्री ने मुस्कराकर पूछा।

"हाँ, सावित्री," आँखें पोछकर भर्राये हुए स्वर मे रामदास ने कहा—"विश्वास हो गया। अगर मै पहले ही विश्वास कर लेता तो यह बुरा दिन क्यों देखना पड़ता!"

"ख़ैर, जो होने को होता है, होकर रहता है। अब पछताने से क्या फ़ायदा?"

"क्या तुमने सचमुच उसकी हत्या की थी?"

"हाँ, रक्षा का उस समय मुझे और कोई उपाय नही सूझा। वह मुझे भ्रष्ट करने पर तुला था, इसलिए विवश होकर मुझे छुरी चला देनी पडी।"

"ख़ैर, अदालत मे तुम यह न कहना।"

"नहीं, मैं तो सब साफ-साफ़ बयान कर दूँगी।"

"देखो, सावित्री, कहना मानो। अगर ज़मानत आज मञ्जूर न हुई तो कल मैं एक वकील को लेकर आऊँगा। वे जो कुछ कहे वही करना।"

सावित्री ने कोई उत्तर न दिया। वह ज़मीन की ओर ताकने लगी।

(५)

सावित्री को निर्दोष पाकर अदालत ने उसे मुक्त कर दिया। उपस्थित दर्शकों ने हर्ष-ध्वनि की।

पति के साथ वह घर पहुँची। उसे हृदय से लगाकर रामदास ने कहा—आज मेरे हर्ष की सीमा नही है। तुम्हे खो चुका था, लेकिन आज फिर पा गया।

"मेरी भी तो ठीक यही दशा है। तुम्हे खो चुकी थी लेकिन आज फिर पा गई।"

थोड़ी देर के बाद—

"अब क्या करना होगा! कैसे काम चलेगा?"

"अपना पेशा व्यवसाय है। वही करो।"

"व्यवसाय के लिए पूँजी चाहिए। मेरे पास अब क्या है ?"

"इसकी चिन्ता न करो। पूँजी मैं दूँगी।"

"तुम कहाँ से दोगी ?"

"अच्छा, मेरे साथ आओ।"

पति के साथ वह एक कोठरी मे गई। एक कोने मे बैठकर वह ज़मीन खोदने लगी। थोडी देर के परिश्रम के बाद ज़मीन से एक सन्दूक़ची निकली। सन्दूक़ची मे रुपयो और नोटो से भरी हुई एक थैली थी। प्रसन्नता से रामदास की आँखे चमकने लगीं।

"यह धन तुम्हे कहाँ मिला ?"

"इसे अम्माजी ने इसी समय के लिए दिया था।"

रामदास की आँखो मे कृतज्ञता एवं श्रद्धा के आँसू छलक आये।

— —

कलङ्क

अपने इस उदासीन वर्तमान से ऊबकर जब कभी उस गये-बीते सुख-दुःखमय अतीत के पन्ने उलटने-पलटने लगता हूँ तो अन्तस्तल के किसी अज्ञात कोने मे छिपी हुई एक अग्नि सहसा प्रज्वलित हो उठती है। सब कुछ जलाकर भी वह आग बुझ न सकी। राख के ढेर मे छिपी हुई वह सदा वायु के एक झोके की प्रतीक्षा करती रहती है। उसे छेड़कर, दो घड़ी उससे खेलकर, उसकी आँच मे झुलसकर, जो सुख मिल जाता है वह अवर्णनीय है। अतीत के पन्नो पर यत्र-तत्र जो चित्र अङ्कित हैं उन पर दृष्टि डालने से मनोवेदना तो अवश्य हाहाकार कर उठती है, किन्तु मानव-जीवन की विकट विडम्बना की अनुभूति तूफान के बाद आनेवाले शून्य की भाँति उद्वेलित आत्मा को थपकियाँ दे-देकर सुला देती है। सुखद निद्रा श्रेयस्कर है, किन्तु दुःखद स्वप्न उपेक्षणीय नहीं।

अपने बारीक स्पष्ट तारो पर इधर-उधर दौडकर, जाल बुनकर, जिस तरह मकडी अपने शिकार को फाँस लेती है ठीक उसी तरह उसने एकाएक अपने अगाध ममत्व के फन्दे में मुझे जकड़ लिया। जाल में फँसकर ही शिकार को फँस जाने का ज्ञान होता है। मुझे भी उस समय होश आया जब मैने सहसा अपने मन की चिरसञ्चित स्वच्छन्दता को बन्दी पाया।

मई का महीना था, मध्याह्न का समय। उस समय उस चौड़ी गली मे आग बरस रही थी। लू चल रही थी। छाते से सिर को बचाता हुआ, आँखो की धूप के चश्मे से रक्षा करता हुआ, खाकी रङ्ग का टसरी सूट और पालिश किये हुए काले जूते पहने हुए, सिग्रेट पीता हुआ मै अपने दफ्तर की ओर चला जा रहा था। हाफिज़ का यह शेर उस समय मेरी ज़बान पर था—

"ब मै सज्जादा रङ्गीं कुन, गरत पीरे मुग़ाँ गोयद,
कि सालिक बेख़बर नबुअद, ज़ राहोरस्म मंजिलहा।"

[अगर बुज़ुर्ग की सलाह हो तो शराब से अपने लिबास को रँग डालो, क्योकि रास्ता दिखलानेवाला मञ्ज़िलो के तौरोतरीकों से नावाक़िफ नहीं होता।]

उस शेर को गुनगुनाते-गुनगुनाते। उस उत्तप्त वायु-मण्डल में साँस लेते-लेते, मुझे नशा-सा चढ आया। भावों की उस उन्मत्तकारी बाढ़ मे हिलोरे लेता हुआ मै सुव्यवस्थित गति से चला जा रहा था। सहसा कहीं खटक पैदा हो गई। गुनगुनाना हठात् बन्द हो गया। फिर मुझे ऐसा जान पडा मानो कोई मेरी ओर देख रहा हो। रुककर, उस भाँय-भाँय करती हुई गली में मै इधर-उधर दृष्टि दौड़ाने लगा। उधर उस छोटे-से कच्चे मकान के अधखुले दरवाज़े की आड में खडा हुआ कोई मेरी ओर देख रहा था। काले, चमकीले केशो के नीचे गोरे मत्थे का थोडा-सा भाग, कमान की-सी भौंहों के नीचे दो बडी-बडी आँखें! सीधी नुकीली नासिका और पतले-पतले अधरो के नीचे छोटी सी ठुड्डी—बस

इतना ही मैं देख पाया। उस अधखुले चेहरे की ओर देखता हुआ मैं मन्त्रमुग्ध-सा खडा रह गया। उन विचित्र तेजपूर्ण आँखों की गहराई मे छिपे हुए भावों के मर्म को तो मैं उस समय समझ न सका; किन्तु अपने शरीर के आन्दोलन का ज्ञान होते ही मुझे लज्जा ने आ घेरा। तब विवेक की सारी शक्ति लगाकर मैं धीरे-धीरे आगे बढा। चलते-चलते मुडकर मैंने देखा, वह तेज़ आँखें उसी तरह एकटक देख रही थीं। गली के मोड़ पर पहुँचकर मैने फिर देखा, वह जैसी की तैसी खडी थी।

एक दीर्घ निःश्वास खींचकर बलपूर्वक मैं दूसरी गली में मुड गया। वह कौन है? जो कोई हो, विचित्र स्त्री है। हाफिज़ का वह शेर फिर ज़बान पर आ गया—

"ब मै सज्जादा रङ्गीं कुन, गरत पीरे मुग़ाँ गोयद,
कि सालिक बेख़बर नबुअद, ज़ राहोरस्म मंज़िलहा!"

गुनगुनाना फिर शुरू हो गया। उस शेर के रहस्यमय भाव फिर धुँधली चित्रकारी करने लगे। उन चित्रों मे वह चित्र भी आ मिला जिसे कुछ मिनट पहले मैं देख चुका था। फिर, दूसरे चित्र अदृश्य हो गये, केवल वह चित्र रह गया। उस चित्र मे क्या-क्या भाव भरा था, यह कौन जाने?

गली से निकलकर, बहुत-सी सडको को पार कर, करीब तीन मील चलकर किसी-किसी तरह जब मैं दफ़्तर पहुँचा तो वह चित्र मेरे साथ था। मेरी मेज़ पर पत्रों और फाइलों का ढेर लगा हुआ था। इन सबको ध्यान से पढ़कर फ़ाइलें देख-देखकर जवाब लिखना था। यो तो मैं काम से नहीं घबराता, किन्तु उस समय उस ढेर को देखकर मेरी हिम्मत छूट गई। टोपी और कोट उतारकर, खूँटी पर टाँगकर, बिजली का पंखा चलाकर, कमीज की आस्तीनें चढाकर, मैं कुरसी पर बैठ गया। सबसे ऊपर रक्खा हुआ पत्र उठाकर खोलकर मैं पढने लगा, किन्तु तीन-चार पंक्तियों से आगे न पढ सका। पंक्तियाँ लिप-पुत गईं, फिर उनके स्थान पर एक चित्र दिखाई देने लगा। वह चित्र वही था।

घबराकर कुरसी से उठकर, सुराही से शीशे के गिलास मे शीतल जल उँडेलकर, बाहर जाकर मैंने अच्छी तरह हाथ-मुँह धोया। कमरे मे लौटकर, गिलास आलमारी मे रखकर, रूमाल से हाथ-मुँह पोछकर, मैं फिर कुरसी पर जा डटा। किन्तु वह चित्र मेरी आँखो में बराबर नाचता रहा। अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर पूरे छः घण्टे काम करने पर भी मैं आधे से अधिक पत्रो के उत्तर न लिख सका। वह चित्र बराबर बाधा डालता रहा।

शाम के सात बज चुके थे। बाक़ी पत्रों को उठाकर मेज़ के ड्रायर मे बन्दकर, उठकर, कोट पहनकर, टोपी लगाकर, कमरे से निकलकर, दफ़्तर से बाहर होकर, मै घर की ओर चला। इस समय भी वही चित्र आँखो के सामने था। हाफ़िज़ के उसी शेर ने फिर मेरी ज़बान पर क़ब्ज़ा जमा लिया। तेज़ी से चलकर, ४५ मिनट बाद मैंने उस गली मे प्रवेश किया। व्यग्रता से इधर-उधर दौड-दौड़कर मेरी दृष्टि उसे खोजने लगी। किन्तु उस समय वह कहीं दिखाई न दी। सहसा वह चित्र भी मेरी आँखो से दूर हो गया। हारकर, आगे बढ़कर, मैने अपने घर मे प्रवेश किया। उस समय स्मृति की अन्धकारपूर्ण चित्र-शाला मे घुसकर, आँखें फाड़-फाडकर, मैं उस चित्र को ढूँढ रहा था।

(२)

आख़िर उस चञ्चल चित्र को मेरे व्यग्र मन ने ढूँढ ही निकाला। इतनी देर तक अदृश्य रहने के कारण वह चित्र धुँधला तो अवश्य हो गया था, किन्तु वह जैसा था उस समय ग़नीमत था। कृपण जिस तरह अपने चिरसञ्चित ख़ज़ाने पर कड़ी नज़र रखता है, उसी तरह उस चित्र पर अपनी पूरी शक्ति से क़ब्ज़ा किये हुए मेरा आन्दोलित मन सारी रात उसीसे भरता पडा रहा। विवशता के बोझ के नीचे दबी हुई तृष्णा, स्वतन्त्र होकर, उस चित्र के सामने हाहाकार करती रही। भोजनालय के सामने पहुँचकर क्षुधा-विकल व्यक्ति यदि तडप उठे तो इसमें आश्चर्य क्या है!

दूसरे दिन उसी समय, उसी तरह, दफ्तर जाने के लिए मैं घर से निकला। गली उसी तरह सूनी पडी थी। इधर-उधर दौडकर मेरी दृष्टि उसी कच्चे मकान के दरवाज़े पर अटक गई। वह दरवाजा बन्द-सा दिखाई देता था। आज वह दिखाई न देगी क्या? जिस आशा की सहायता से सबेरे से अब तक अपने स्वेच्छाचारी मन को मैं क़ाबू मे किये हुए था वह सहसा लोप हो गई। रोगी मन फिर चीत्कार करने लगा। किसी-किसी तरह उस मकान के सामने पहुँचकर मैंने देखा, दरवाज़ा बिलकुल बन्द न था। अपने शरीर की सम्पूर्ण शक्ति को आँखो मे भरकर मैं उसकी ओर ध्यान से देखने लगा। सहसा अधखुले दरवाज़े से तह किया हुआ एक काग़ज निकला और उडकर मेरे सामने आ गिरा। मेरी बाछे खिल गईं। तुरन्त झुककर, उसे उठाकर, जेब मे रखकर मैंने देखा, वह उसी तरह खडी हुई मुस्करा रही थी। निःस्तब्ध खडा होकर मैं उसकी ओर एकटक देखने लगा। उस समय मुझे ऐसा ज्ञात होने लगा, मानो कहीं किसी युग मे मेरा उससे परिचय हुआ था।

उसकी ओर तन्मयता से देखता मै कितनी देर तक खडा रहा, यह मै ठीक-ठीक नहीं कह सकता। मुझे उस समय होश आया जब वह एकाएक दरवाज़े से हटने लगी। तब, एक दीर्घ निःश्वास खींचकर, मुडकर, मै धीरे-धीरे आगे बढा। उस समय मेरे पैर मन-मन भर के हो गये थे। कोई मुझे पीछे खीचने की कोशिश कर रहा था, किन्तु मै बलात् आगे बढ रहा था। कई बार मुड-मुडकर, उसकी ओर देखकर, मैं आख़िर दूसरी गली मे मुड गया।

अब मुझे उस काग़ज का ख़याल आया। जेब मे हाथ डालकर, उसे निकालकर, खोलकर मैंने देखा। वह एक पत्र था। उस पत्र को पढते हुए गली मे चलना उचित न जान पडा। इसलिए उसे फिर जेब मे रखकर मैं तेजी से आगे बढा। गली से निकलकर तीन-चार सडकें पार करने के बाद मै उस सडक पर पहुँचा जो सीधे मेरे दफ़्तर की ओर

जाती थी। अब अपने कौतूहल को मै न रोक सका। तुरन्त जेब से पत्र निकालकर, खोलकर, मैं पढने लगा—

"......, बहुत दिनो से नित्य दोपहर के समय आपको इस गली में निकलते देखती हूँ। नित्य जी चाहता था कि आपसे बात-चीत करूँ, लेकिन अभी तक हिम्मत नहीं पडती थी। डरती थी कि आप न जाने क्या समझें। अभी तक सब्र किये बैठी थी। उसी का आज यह फल मिला कि आपका ध्यान आकृष्ट कर पाई। आपसे अपना सुख-दुःख मैं क्यो कहना चाहती हूँ? यह मैं नहीं जानती। आपमें न जाने ऐसी कौन-सी बात है जो इतने दिनो से मुझे बरबस अपनी ओर खींच रही है।

मै कौन हूँ? एक अभागी हूँ, जिसे अभाग्य दरवाज़े-दरवाज़े की ठोकरे खिला रहा है। अपने पहले जन्म मे न जाने मैंने कौनसा ऐसा पाप किया था, जिसके लिए मुझे आज यह सज़ा मिल रही है। ख़ैर, जो कुछ हो, क़िस्मत मे जितना लिखा है उतना तो भोगना ही पडेगा।

मैं जानती हूँ, आप इसी गली मे रहते हैं। आप दफ्तर से कब लौटते है, यह भी मैं जानती हूँ। आज जब आप दफ़्तर से वापस आयेंगे, उस समय मै अपने दरवाज़े पर खडी रहूँगी। क्या आप कृपा करके उस समय एक मिनट के लिए मेरे घर मे आने का कष्ट करेंगे? आशा है, आप मुझे हताश न करेंगे।

............,
तारा।"

पत्र पढ़कर उस स्त्री के विषय मे मै जितना जान पाया, उतना मेरा कौतूहल शान्त करने के लिए काफी न था। पहेली हल न हो सकी। पत्र जेब मे रखकर, एक दीर्घ निःश्वास खींचकर, मैं आगे बढ़ा।

दफ्तर पहुँचकर दिन भर पत्रों और फ़ाइलो के साथ माथापच्ची करने के बाद सन्ध्या समय जब मैं फिर घर की ओर रवाना हुआ तो इस समय मेरी दशा व्यग्रता की उस मञ्ज़िल पर पहुँच चुकी थी जहाँ विवेक

मूर्च्छित होकर गिर पडता है। दिन भर तारा के प्रस्ताव के औचित्य-अनौचित्य पर विचार करते रहने के कारण अब अधिक सोचने की शक्ति मुझमे न थी। जाल के नीचे पडे हुए चारे की ओर देर तक देखते रहने के बाद चतुर से चतुर पक्षी भी उसके ऊपर टूट ही पडता है।

पर तौलते हुए पक्षी की भाँति, अन्त मे, मैं अपनी उस गली मे घुसा। आँखे उसी मकान की धुँधली छाया मे उलझ गईं। भावोन्माद के तीव्र प्रवाह मे बहता हुआ मैं तेज़ी से आगे बढ रहा था। वह घर आ गया। अधखुले दरवाज़े की आड मे वह स्थिर खडी हुई थी। दरवाज़े के सामने पहुँचकर, सिहरकर, मैं खडा हो गया। करवट बदलकर, कुछ कहकर, विवेक फिर अचेत हो गया।

"बाबूजी।"

"हाँ।"

"अन्दर आइए।"

तब आगे बढकर, धीरे-से दरवाजा खोलकर, मै उस घर के अन्दर चला गया। उस घर के छोटे-से आँगन मे पहुँचकर मैं खडा हो गया। दालान मे रक्खी हुई मिट्टी के तेल की लालटेन का धूम्र मिश्रित मन्द प्रकाश चारो ओर फैला हुआ था। दरवाज़ा बन्द करके वह मेरे सामने आकर खडी हो गई। वह मेरी ओर देखने लगी, मै उसकी ओर देखने लगा। लाल रङ्ग की रेशमी साड़ी मे छिपे हुए उसके उस गोरे शरीर मे यौवन का वह क्षुब्ध उन्माद भरा था, जो वसन्त-ऋतु मे कुसुमराशि मे दृष्टिगोचर होता है। वयस उसकी २० २१ से अधिक न जान पडती थी। मेरी कल्पना से वह अधिक सुन्दर थी। दालान मे पडी हुई खाट की ओर सङ्केत करके उसने कहा—"जरा बैठ जाइए बाबूजी!"

तब सचेत होकर, दालान मे जाकर, मै खाट पर बैठ गया। खाट के समीप ज़मीन पर वह टाट पर आ बैठी। चित्त सँभालकर मैंने कहा—"इस मकान में तुम अकेली ही रहती हो क्या!"

"नहीं, बाबूजी, अकेले तो नहीं रहती।"

"और तो कोई यहाँ दिखाई नहीं देता?"

उसके चेहरे पर शर्म की लाली दौड़ गई। एक क्षण कुछ सोचकर उसने कहा—"अकेली होती तो बहुत अच्छा होता, बाबूजी।"

मै उसके चेहरे की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखने लगा। दो-तीन क्षण निःस्तब्ध रहकर, एक दीर्घ निःश्वास खींचकर, विषादपूर्ण आँखो से मेरी ओर देखते हुए उसने कहा—"यहाँ मेरे साथ वह आदमी रहता है जिसने मेरा सर्वस्व नष्ट कर दिया।"

"वह कौन है?"

"आपको देर तो नहीं हो रही है?"

"नहीं, इस समय देर हो जाने का मुझे डर नहीं है।"

"तो फिर इसी समय मै आपसे अपना सारा हाल कहूँगी।"

"मैं भी यही चाहता हूँ। कल जब तुम्हे पहले पहल देखा था तभी से तुम्हारी बात सोच रहा हूँ। आज जब तुम्हारा ख़त मिला तो उससे इतना ही मालूम हुआ कि तुम दुखी हो।"

"हाँ, बाबूजी! मै दुखी हूँ। अपने उस पत्र ही मे सब कुछ लिख देती, किन्तु अपने मुख से आपको सारा हाल सुनाना चाहती थी। इसी लिए न लिख सकी।"

"तुम क्या यहीं की रहनेवाली हो?"

"नही बाबूजी, मै दिल्ली की रहनेवाली हूँ।"

"तो फिर तुम यहाँ कैसे आ गई?"

सिर झुकाये हुए थोड़ी देर तक वह चुपचाप बैठी रही। फिर आँखें उठाकर मेरे चेहरे की ओर देखती हुई वह बोली—"अच्छा बाबूजी, सुनिए, कहती हूँ। जैसा पहले कह चुकी हूँ, मैं दिल्ली की रहनेवाली हूँ। मेरा मायका और ससुराल दोनो उसी शहर मे हैं। मै वैश्य हूँ। एक प्रतिष्ठित कुल मे मेरा विवाह हुआ था। ससुरालवाले भी व्यवसायी थे, इसलिए खाने-पहनने की तो मुझे कोई तकलीफ न थी; किन्तु

अपने पति से मेरा मन न मिलता था। उनका चाल-चलन अच्छा न था। ब्याह होने के कई महीने बाद तक तो वे मुझसे मुहब्बत दिखाते रहे, फिर शायद उनका जी मुझसे भर गया। दिन भर दूकान पर काम करने के बाद पहले तो वे शाम होते ही घर आ जाते थे, लेकिन अब बारह-एक से पहले न लौटते। कभी-कभी सारी रात घर से ग़ायब रहते। मेरे जी मे जलन पैदा हो गई, उनके ऊपर क्रोध आने लगा। मेरे सास-ससुर भी उनकी इस हरकत से नाराज़ रहते थे, लेकिन उनके ऊपर उनका कोई वश न था। कुछ दिनों तक रो-गाकर मैं भी चुप हो गई। मुझे उनकी सूरत से घृणा हो गई। वे जो कुछ कहते थे, उसे अपना धर्म समझकर मै करती तो अवश्य थी, किन्तु उनकी कोई बात मुझे भाती न थी।

"घर के लोगो को खिला-पिलाकर, रात के समय, अपने मैले बिस्तर पर लेटकर, करवटें बदल-बदलकर मैं चुपचाप आहें भरती पडी रहती थी। ज्येष्ठ का महीना था, रात का समय था। निर्मल चाँदनी छिटकी हुई थी। मै अपनी खुली हुई छत पर बिस्तरे पर पडी हुई थी। ग्यारह बज चुके थे, लेकिन मेरे इस शरीर के स्वामी का कहीं पता न था। अब मेरे मन की दशा उस मछली की सी हो गई थी जो जल से निकाल ली जाने के बाद तडप-तडपकर बेहोश हो गई हो। दिल मे दर्द था, लेकिन दर्द की शिकायत करने की शक्ति अब न थी। उस समय मै संज्ञाशून्य-सी पड़ी थी। सहसा मेरी दृष्टि सामने मकान की छत की ओर गई। स्थिर खडा हुआ कोई मेरी ओर देख रहा था। पहले तो मै झिझकी, लेकिन ज़रा देर मे मेरी आँखें भी उसकी ओर हठात् देखने लगीं। अपने स्थान पर पत्थर की मूर्ति की तरह वह आधे घण्टे तक खडा रहा। मुझे भी करवट बदलने तक की सुधि न थी। तब थोडी देर तक इधर-उधर टहलकर वह चला गया। करवटें बदल-बदलकर मै उसकी बात सोचने लगी। वह जवान था, कुरूप न था। उस निर्मल चाँदनी में यह देख लेना कठिन न था। उसकी सूरत मेरी आँखों में बस गई।

"दो बजे के समय मेरे पति झूमते-झामते आये और अपनी खाट पर पडकर सो गये। उस समय मैं जाग रही थी, किन्तु नित्य की तरह उठकर आज मै उनका स्वागत न कर सकी। चार बजे तक जागती हुई मै उस छत की ओर देखती रही, फिर नींद आ गई। सबेरे छः बजे उठकर मै गृहस्थी के काम-धन्धो मे बैल की तरह लग गई। दिन भर मेरी आँखे दर्द करती रहीं, लेकिन सोने का मौक़ा न मिला। पाँच बजे शाम के समय मै किसी काम से अपनी छत पर गई। मेरी आँखे उस छत की ओर उठ गई। वह जवान अपनी छत पर टहल रहा था। रुककर मेरी ओर देखकर वह मुस्कराने लगा। मेरा दिल धडकने लगा, मै भी मुस्कराने लगी। एक मिनट तक खड़ा रहकर वह फिर टहलने लगा। अब यहाँ अधिक देर तक ठहरना उचित न समझ मैं नीचे चली गई। उस मकान मे वे लोग अभी हाल ही मे ठहरे थे, इसलिए उन लोगो के बारे मे हम लोग कुछ न जानते थे।

"रात के समय वह फिर उसी तरह छत पर आकर देर तक टहलता रहा। मेरी विकलता भी बढने लगी। ख़ैर, वह रात किसी-किसी तरह कट गई। दूसरे दिन दुपहरी के समय मेरे घर एक महरी आई, जो उस घर मे काम करती थी। यह महरी पहले हमारे यहाँ भी काम कर चुकी थी। थोडी देर तक वह मेरी सास से बातचीत करती रही, फिर वह मेरे कमरे मे आई। हाल-चाल पूछ-पूछकर वह थोडी देर तक मीठी-मीठी बाते करती रही, फिर उसने मुझे एक पत्र दिया। यह पत्र उसी युवक का था। वह पत्र पढकर मेरा सिर घूम गया। हृदय पर चोट करनेवाले मीठे-मीठे शब्दो मे उसने लिखा था कि वह मेरा सारा हाल जानता है और उसे मुझसे पूरी सहानुभूति है; वह मेरे ऊपर मोहित हो गया है और मुझे मुसीबत से छुडाना चाहता है। देर तक सोच-विचार कर, बना-बनाकर, मैंने जवाब लिखा। उसकी सहानुभूति के लिए जी खोलकर धन्यवाद दिया और अपना प्रेम भी प्रकट किया। मेरा जवाब लेकर शीघ्र ही वापस आने का वचन देकर महरी चली

गई। अपने बिस्तरे पर लेटकर, करवटें बदल-बदलकर, मैं उसकी प्रतीक्षा करने लगी।

"दो घण्टे के बाद महरी वापस आई। इस बार वह फिर उसका दूसरा पत्र लाई थी। यह पत्र भी रसीले भावों से सराबोर था, और उसमें वह प्रस्ताव था जिसे पढ़कर मैं काँप उठी। उसी प्रस्ताव ने मेरा सर्वस्व नष्ट कर दिया। किन्तु उस समय तो उस पर विचार करने से मुझे नशा चढ आया। उसी नशे की दशा मे मैंने अनुमति दे दी। मेरा जवाब पाकर, प्रसन्न होकर, महरी चली गई।

"वह प्रस्ताव पूरा हो गया। आधी रात के समय जब घर के सब प्राणी सो गये थे, अपने सारे गहने और थोड़े-से कपड़े लेकर मैं घर से निकल भागी। मेरे घर के बाहर अँधेरी गली में वह महरी के साथ खड़ा था। गली से निकलकर सडक पर पहुँचकर, मै उसके साथ ताँगे पर सवार हो गई। महरी हम लोगो के साथ जाने को राज़ी न हुई। ताँगा तेज़ी से चलकर स्टेशन पहुँचा। उसी रात को गाडी पर सवार होकर दूसरे दिन हम दोनो इस शहर में आ पहुँचे। एक सप्ताह तक हम लोग एक धर्मशाला में पड़े रहे। उसके बाद यह मकान भाडे पर लेकर रहने लगे।"

इतना कहकर वह चुप हो गई। मेरा कौतूहल अभी पूरी तरह शान्त न हुआ था किन्तु उस समय उससे इसरार करना मैंने उचित न समझा। भाँति-भाँति के भावों से आन्दोलित मैं मौन बैठा रहा।

वेदना का भार जब कुछ कम हुआ, तो उसने फिर ज़बान खोली—"बाबूजी, उस रात को जब मैं घर छोड़कर निकली थी तो मेरा ख़याल था कि मेरी मुसीबतों का अन्त हो गया। किन्तु यह मेरी भूल थी। जिसके भाग मे सुख न लिखा हो उसे सुख कैसे मिल सकता है? लेकिन बिना कुछ खोये मनुष्य कुछ नहीं सीख पाता। आज मालूम हो रहा है कि घर छोड़कर मैंने कितनी बडी ग़लती की, पर उस समय तो मै अन्धी

हो गई थी। यहाँ आकर जीवनलाल का रङ्ग खुला। दिखाने के लिए तो यह मुझसे प्रेम करता है, किन्तु वास्तव में इसे केवल अपने से प्रेम है। इसे जुआ खेलने और शराब पीने की आदत है। जो कुछ यह अपने साथ ले आया था उसे उडा चुकने के बाद इसने मेरे गहनों पर हाथ साफ करना शुरू कर दिया। एक हार के सिवा अब मेरे पास कुछ बाक़ी नहीं है। जब कभी कुछ कहती हूँ तो यह मुझे बुरी तरह पीटता है। कोई काम-धन्धा नहीं करता। सबेरे दस बजे घर से बाहर जाता है तो बारह-एक बजे रात से पहले घर नहीं लौटता। कैसे बेड़ा पार लगेगा, भगवान्! कुछ समझ में नहीं आता।"

वह निःस्तब्ध हो गई। एक दीर्घ निःश्वास खींचकर, उसके उतरे हुए चेहरे की ओर देखते हुए, मैने कहा—"सचमुच तुम्हे बडी कड़ी मुसीबतें झेलनी पड़ रही हैं। लेकिन एक बात है। तुम अपने मायके या ससुराल क्यो नहीं चली जाती?"

किञ्चित् अवहेलना-भरी आँखो से मेरी ओर देखकर वह बोली—"नहीं, बाबूजी, उन दोनों जगह अब मुझे शरण नही मिल सकती। वह लोग बड़े कट्टर हैं। मेरी जैसी कलमुँही को वे अब किसी तरह अपना नहीं सकते।"

"हाँ, ठीक कहती हो, तारा!"

"इस तरह कुढ-कुढ़कर जीने से तो मर जाना ही अच्छा है।" वध के लिए जाती हुई गाय की तरह मेरी ओर देखकर उसने कहा।

मेरा हृदय दर्द से तडपने लगा। किन्तु उसकी रक्षा का कोई उपाय उस समय मुझे न सूझा। चारपाई से उठकर, खड़े होकर, अपने निरीह मन की सारी करुणा आँखो मे भरकर उसकी ओर देखते हुए मैंने कहा—"सब्र करो, तारा! क्या करोगी? दुनिया का यही रङ्ग है! जिसने तुम्हें इतना दुःख दिया है, वही तुम्हारे निस्तार का भी कोई उपाय निकालेगा।"

"हाँ, बाबूजी, सब्र ही के सहारे तो अभी तक जीती हूँ। अब आप जाइएगा क्या?"

"हाँ, मैं अब जाता हूँ।"

"मुझे भूल न जाइएगा, बाबूजी।"

"नहीं, तारा, मैं तुम्हे कभी भूल नहीं सकता। जो स्वयं दुखी है, वह किसी दूसरे दुखी प्राणी का हाल जानकर क्या कभी उसे भूल सकता है?"

मै दरवाज़े की ओर चला।

"कभी-कभी तो आप यहाँ आने का कष्ट करेंगे न?"

"हाँ, ज़रूर आऊँगा, तारा, इतमीनान रक्खो।"

दरवाज़ा खोलकर मै शीघ्रता से बाहर निकल गया। उस समय मैं भावोन्माद की उस सीमा पर पहुँच गया था जहाँ अपने ऊपर वश नहीं रह जाता। संसार में सबसे अधिक भय मुझे इस अवस्था से था। किन्तु जिस बात से डरिये, वह गले ज़रूर पड जाती है। इसी के द्वारा कितनी ही बार ठोकरे खाकर मैने अन्तस्तल के एकान्त मे शरण ली थी, किन्तु जन्म-जन्मान्तर के संस्कार कुटी के द्वार पर शोर मचाकर, बाहर खीचकर, मुझे फिर एक नई मुसीबत मे फँसा देते।

(३)

चार दिन तक मैंने उससे मिलने की कोशिश नहीं की। किन्तु मेरे मस्तिष्क में वह बराबर मौजूद रही। बहुत कुछ सोचने के बाद भी मै उसके लिए कोई मार्ग न निकाल सका।

पाँचवें दिन, सबेरे के समय, मै अपने कमरे मे पडा हुआ एक उपन्यास पढ रहा था। सहसा कमरे मे एक महरी ने प्रवेश किया। उसकी सूरत से मैं परिचित था। पुस्तक से दृष्टि हटाकर, उसकी ओर देखते हुए, मैंने पूछा—"कहो, माई, क्या है?"

सिर हिलाते हुए वृद्धा ने कहा—"आप ही के पास आई हूँ, भइया। उधर उस मकान में जो बाबू साहब रहते हैं उनकी लुगाई ने मुझे आपके पास भेजा है। बाबू साहब बहुत बीमार हैं। बहूजी ने ज़रा देर के लिए आपको बुलाया है।"

"बाबू साहब को क्या हुआ है ?"

"बुख़ार चढा है भइया, देह तवा की तरह जल रही है। आज तीन रोज़ से यही हाल है।'

"किसकी दवा होती है माई ?"

"अभी तो किसी की दवा नहीं हो रही है भइया।"

"क्यो माई ?"

"खाने तक को जुरता नही भइया, दवा कहाँ से मॅगावे ? बाबू साहब दिन-रात शराब पीते हैं, ऊपर से कोई नौकरी-चाकरी भी नहीं करते। बहूजी के गहने बेच-बेचकर खा रहे हैं। इस तरह कै दिन चलेगा भइया ?"

"हाँ, माई, इस तरह किसी का काम नहीं चल सकता। अच्छा, चलो, चलता हूँ।"

उठकर, कमीज़ पहनकर, मै उसके साथ हो लिया। रास्ते भर वृद्धा जाने क्या-क्या कहती रही।

उस घर के बन्द दरवाज़े के सामने पहुँचकर महरी ने कुण्डी खट-खटाई। दरवाज़ा खोलकर तारा एक ओर खडी हो गई। मैली साडी मे ढॅका हुआ उसका शरीर रुग्ण-सा दिखाई देता था। चेहरा सूखकर पीला पड गया था, आँखें लाल हो गई थी। महरी सहन मे चली गई।

अन्दर प्रवेश करके मैने पूछा—"क्या हाल है तारा ?"

दरवाज़े की कुण्डी चढ़ाकर मेरी ओर चढी हुई आँखो से देखते हुए उसने कहा—"वे बहुत बीमार हैं। तीन दिन से उन्हे बुख़ार आ रहा है।"

"बुख़ार कैसे आ गया ?"

"जिस दिन आपसे भेंट हुई थी उस दिन ढाई बजे रात को ये घर आये। दूसरे दिन सबेरे लड-झगडकर मेरा हार ले गये। दिन भर वे वापस नहीं आये। ग्यारह बजे रात के समय जब वे घर लौटे तो उन्हे बुख़ार चढा हुआ था और जेब मे एक कौड़ी भी न थी। ज़रा चलिए बाबूजी, देख लीजिए। हाय राम! मैं क्या करूँ ?"

"क्या करोगी, धीरज धरो, तारा। मैं अभी किसी डाक्टर को बुलवा लूँगा। बहुत जल्दी अच्छे हो जायेंगे।"

एक दीर्घ निःश्वास खींचकर तारा के पीछे-पीछे मैं उस अँधेरी कोठरी मे गया, जहाँ एक खाट पर फटी लिहाफ़ ओढे जीवनलाल बेहोशी की दशा मे पडा हुआ कराह रहा था। शय्या के पास जाकर, उसके चेहरे से लिहाफ़ हटाकर, जलते हुए मत्थे पर हाथ रखकर मैंने देखा। बुख़ार १०४ डिग्री से कम न रहा होगा। करवट बदलकर वह चीख़ उठा, फिर ज़ोर-ज़ोर से कराहने लगा। तुरन्त लिहाफ से उसके चेहरे को ढँककर मै चारपाई से अलग हट गया।

तारा ने मेरी ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा। अपनी आशङ्का को आशावादिता के परदे मे छिपाकर मै फर्श की ओर ताकने लगा। एक मिनट के बाद कराहने का शब्द कुछ धीमा पड़ गया। तब मै कोठरी से बाहर निकला।

"हालत क्या बहुत ख़राब है, बाबूजी?" तारा के स्वर में वह गम्भीरता थी, जो वेदना की सीमा है।

"हाँ, बुख़ार तो तेज़ है, लेकिन अभी घबराने की कोई बात नहीं मालूम होती। मै जाता हूँ, थोडी देर मे डाक्टर को साथ लेकर आऊँगा।"

"अच्छा, बाबूजी। मेरे कारण आपको भी इतनी तकलीफ़ उठानी पड़ रही है। मै भी कैसी अभागी हूँ कि सब को मेरी ज़ात से कष्ट ही मिल रहा है।"

"इसमें कष्ट की तो कोई ऐसी बात नहीं है। ससार मे मुसीबत सभी के ऊपर पडती है। जी छोटा न करो। सारा कष्ट एक दिन दूर हो जायेगा। अच्छा मैं जाता हूँ।"

तब मैं बाहर चला गया। अपने घर पर पहुँचकर, एक पत्र लिखकर, उसे अपने नौकर के हाथ मैंने एक मित्र डाक्टर के पास भेजा।

एक घण्टे के बाद नौकर डाक्टर साहब को साथ लेकर वापस आया। तब डाक्टर को मैं तारा के घर ले गया।

रोगी की परीक्षा करके डाक्टर साहब ने कहा—"घबराने की कोई बात नहीं है। मलेरिया है। मैं दवा लिखे देता हूँ। तीन-चार दिन मे बुख़ार बिलकुल उतर जायेगा।"

नुसखा लिखकर, फ़ीस लेकर डाक्टर साहब चले गये। अपने नौकर से मैंने दवा मँगवाई। दवा और ख़र्च के लिए कुछ रुपये तारा को देकर मैं अपने घर चला आया।

एक सप्ताह मे जीवनलाल बिलकुल चङ्गा हो गया। एक दिन सध्या के समय जब मैं दफ्तर से घर लौटा तो वह मुझसे मिलने आया। सलाम का जवाब देकर, एक कुरसी की ओर सकेत करके, मैंने कहा—"तशरीफ रखिए, जनाब।"

कुरसी पर बैठकर मुस्कुराते हुए जीवनलाल ने कहा—"आज आपको ख़ास तौर से धन्यवाद देने के लिए हाजिर हुआ हूँ।"

"इसकी तो कोई ज़रूरत न थी।"

"नहीं, जनाब, मेरे साथ आपने वह किया है, जो शायद अपना सगा भी मुश्किल से करता। उस नाज़ुक हालत मे आप मेरी मदद न करते तो मैं हर्गिज़ न बचता। ज़िन्दगी भर मै आपका अहसान न भूलूँगा।"

मन की प्रसन्नता को दबाता हुआ मैं चुपचाप बैठा रहा।

"हम लोगो की हालत से तो आप वाक़िफ हो ही चुके होगे?"

"हाँ, जनाब, मैंने आपका क़िस्सा सुना है। क्या कीजिएगा, जो कुछ होने को होता है, होकर रहता है।"

"जवानी तो दीवानी मशहूर ही है, बाबू साहब। इसी ने मेरा तख़्ता भी तबाह कर दिया। लेकिन, सबसे ज्यादा अफसोस मुझे इसी बात का है कि मै अपने साथ तारा को भी ले डूबा।"

"जो कुछ होना था हुआ। अब गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या मिलेगा ! हाँ, आपके ऊपर एक फ़र्ज़ ज़रूर है। आपने उसका हाथ पकड़ा है। अब हँसी-ख़ुशी से निबाह कीजिए।"

"हाँ, साहब, आप ठीक फ़र्माते हैं। यह तो मेरा धर्म ही है। अभी तक मै गुमराही की हालत मे था, लेकिन अब ठीक रास्ते पर चलने का इरादा पक्का कर चुका हूँ। क्यो जनाब, यहाँ कहीं मुझे नौकरी मिल जायेगी ?"

"आपने कहाँ तक तालीम पाई है ?"

"एफ० ए० तक पढ़ा हूँ।"

"यहाँ सैकड़ों दफ्तर हैं। तलाश कीजिए। कहीं न कहीं जगह ज़रूर मिल जायेगी। मै भी फ़िक्र में रहूँगा।"

"शुक्रिया। कल ही से नौकरी की तलाश मे निकलूँगा। आप ख़याल रखेंगे तो जल्द ठिकाना लग जायगा।"

"आप इतमीनान रखिए, मुझे ख़याल रहेगा।"

कृतज्ञता की दृष्टि से मेरी ओर देखकर, सिर झुकाकर, वह कई मिनट तक निःस्तब्ध बैठा रहा। फिर विनयपूर्ण आँखो से मेरे चेहरे की ओर देखते हुए उसने कहा—"इस वक़्त मैं आपके पास एक और दरख़्वास्त लेकर आया हूँ, लेकिन अर्ज करने मे बड़ी शर्म मालूम हो रही है।"

"कहिए, क्या बात है। सकोच न कीजिए।"

"घर मे कुछ रुपयों की सख़्त ज़रूरत है। अगर आपके पास हों तो पाँच रुपये दे दीजिए। मै बहुत जल्द आपका सारा क़र्ज़ अदा कर दूँगा।"

"आपका यह ख़याल तो फ़िज़ूल है। मैं तो समझता हूँ कि मैंने आपको कुछ क़र्ज नहीं दिया।" कुरसी से उठकर, कोट की जेब से पर्स निकालकर, मैंने देखा। उसमे सिर्फ़ तीन रुपये थे।

"इस वक़्त तो मेरे पास सिर्फ़ तीन रुपये हैं, ले लीजिए।"

"ख़ैर, कोई हर्ज नहीं है। इतने ही में हमारा काम चल जायगा। शुक्रिया।"

रुपये लेकर, जेब मे रखकर, सलाम करके जीवनलाल चला गया। तब कुरसी पर लेटकर मैं उसकी बात सोचने लगा। अभी तीन दिन हुए तारा को पन्द्रह रुपये दे आया था। फिर इतनी जल्दी सब रुपये कैसे ख़र्च हो गये! अगर किसी विशेष कारण से ज़रूरत ही आ पड़ी तो उसने जीवनलाल को रुपये लाने के लिए क्यो भेजा? उसके ऊपर तो उसे विश्वास न था! ये हज़रत फिर वही पुराना रङ्ग पकड रहे हैं क्या? अगर बात यही है तो अब इनकी ख़ैरियत नहीं है। इस तरह ख़ुशामद, लल्लो-चप्पो और धोखे से किसी का कै दिन काम चल सकता है! दुनिया का अजीब रङ्ग है। जिसके ऊपर एतबार करो वही गला काटने को तैयार हो जाता है। इस तरह तर्क-वितर्क मे देर तक पडा रहा। कभी इन विचारो की पुष्टि हो जाती, कभी ये कट जाते।

(४)

दो दिन के बाद जब तारा से मेरी भेट हुई तो मेरा सन्देह सत्य निकला। वह रुपये उसने तारा को न दिये थे और आधी रात के बाद जब वह घर वापस गया था तो नशे मे चूर था। मुझे बडा दुःख हुआ, किन्तु कोई उपाय न था। हर पहलू से विचार करने के बाद मैंने निश्चय कर लिया कि जीवनलाल को अब कभी रुपये न दूँगा। शायद इसी मे उसकी भलाई हो।

एक सप्ताह के बाद एक दिन सबेरे के समय वह मेरे पास फिर आया। ख़ुमारी के कारण उसका चेहरा सूखा हुआ था, आँखें चढी हुई थीं। उसके सलाम का जवाब देकर, एक कुरसी की ओर संकेत करके, मैंने कहा—"बैठिए।"

कुरसी खींचकर वह बैठ गया। दफ्तर की फाइल बन्द करते हुए मैने कहा—"अब आपकी तबियत कैसी है, जनाब!"

"ये तो अच्छी है, लेकिन अभी बिलकुल साफ नहीं हुई।"

"हाँ, चेहरा तो आपका उतरा हुआ है।" फाइल मेज़ पर एक ओर रखते हुए मैंने कहा।

सिर झुकाकर वह फर्श की ओर ताकने लगा।

"कहीं नौकरी तलाश करने गये थे?"

"गया तो कई जगह था, लेकिन कहीं कामयाबी नहीं हुई।" एक क्षण सोचकर, उसी तरह फर्श की ओर देखते हुए, उसने कहा।

"बराबर तलाश करते रहिए। कही न कही कोई जगह ज़रूर मिल जायगी। मैंने भी कई आदमियो से कह रक्खा है। कही मौक़ा मिला तो आपको इत्तला दूँगा।"

"शुक्रिया, आपसे मुझे यही उम्मीद है। लेकिन, बाबू साहब, क़िस्मत मे जितना लिखा हो उतना ही तो मिलेगा न! यहाँ तो किस्मत ऐसी मिली है कि ईश्वर ही मालिक है।" इस बार आँखें उठाकर उसने मेरी ओर देखा।

"इस क़दर नाउम्मीद होने की तो मुझे कोई वजह नहीं मालूम होती। दुनिया मे बुरे वक़्त का सामना हर आदमी को करना पडता है। लेकिन समय सदा एक सा नही रहता।"

"यह तो दिल बहलाने की बातें हैं साहब! मेरे ऊपर जैसी बीत रही है वह मैं ही जानता हूँ।"

उसके चेहरे की ओर देखता हुआ मैं चुपचाप बैठा रहा।

एक क्षण बाद, सिर उठाकर, उसने फिर कहा—"माफ कीजिएगा, जनाब, आपने जो कुछ कहा वह तो बिलकुल ठीक है, लेकिन जब दिल में जलन होती है तो आँच बाहर निकल ही आती है।"

"आप बिलकुल दुरुस्त फर्माते है।"

एक मिनट तक मूर्तिवत् बैठे रहकर, मेरी ओर विनय की दृष्टि से देखते हुए, उसने धीरे से कहा—"आज आपको फिर तकलीफ़ देने आया हूँ।"

मेरा माथा ठनका। कृत्रिम गम्भीरता धारण करके बोला—"कहिए, क्या बात है।"

"घर मे आज कुछ खाने को नहीं है। कुछ रुपये क़र्ज़ दे दीजिए। आपको बार बार तकलीफ दे रहा हूँ, इसके लिए निहायत शर्मिन्दा हूँ।"

घर में कुछ न होने की बात बिलकुल झूठ थी। अभी उस दिन भी तारा को रुपये दे आया था। हज़रत फिर चाल चल रहे हैं। ख़ैर, जो कुछ हो, उस समय मेरे पास रुपये न थे और आपकी रंगरेलियो के लिए क़र्ज़ लेने को मै तैयार न था। विवशता के गाम्भीर्य से सिर हिलाते हुए मैंने कहा—"इस वक़्त तो मेरे पास एक पैसा भी नहीं है, साहब। महीना ख़त्म हो रहा है। अभी परसो एक दोस्त से दस रुपये क़र्ज़ लिये थे, वे भी ख़त्म हो गये।"

"कहीं मिल सके तो दिलवा दीजिए। मैं बहुत जल्द अदा कर दूँगा।"

"नहीं, साहब, कहीं क़र्ज़ नहीं मिल सकता। इस वक़्त मैं मजबूर हूँ।"

"तो मै नाउम्मीद चला जाऊँ?"

"मजबूरी है, माफ कीजिए।"

"अच्छा, आदाब अर्ज़।"

"आदाब अर्ज।"

मुँह बनाये हुए उठकर वह कमरे से बाहर निकल गया। उसके चेहरे के भाव को देखकर मैं सहम तो अवश्य गया, किन्तु उस समय मेरे हृदय मे उसके सुधार की जो सत्प्रेरणा थी उसने उस आशङ्का को हँसकर टाल दिया। एक सिगरेट जलाकर, आरामकुरसी पर लेटकर, मैं छत की ओर मुस्कराता हुआ देखने लगा। बिना कष्ट उठाये किसी का सुधार असम्भव है।

दूसरे दिन सन्ध्या के समय तारा ने मुझे दावत दी थी। दफ़्तर से घर लौटकर, कपडे बदलकर, मैं उसके यहाँ गया।

उसके हाथ के बनाये हुए भाँति-भाँति के व्यञ्जनो का मज़ा लेकर, हाथ-मुँह धोकर, पान खाकर, खाट पर बैठकर मै उससे बातें कर रहा था। आज तारा ने अपनी सबसे अच्छी साडी पहनी थी। आनन्द से उसका चेहरा खिला जाता था। मेरा भावोन्माद का मर्ज़ भी उमड आया।

अपनी बडी-बडी आँखो मे अपार अनुनय भरकर, मेरी ओर देखते हुए, उसने कहा—"क्यो, बाबूजी, जिसे नित्य रूखा-सूखा ही खाने को मिलता है क्या उसे कभी बढिया खाना न मिलना चाहिए ?"

मूर्तिवत् बैठा हुआ मैं उसके उत्फुल्ल मुखमण्डल की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखने लगा।

"मेरा मतलब यह है बाबूजी कि जिसे सदा दुःख ही दुःख मिलता आया है उसे क्या कभी सुख न मिलना चाहिए ?"

मै सन्नाटे में आ गया। शब्दो से अधिक उसकी आँखों ने उसके भाव को स्पष्ट कर दिया। उसी भाव की छाया अपने मन में देखकर मै सिहर उठा। मदोन्मत्त हृदय को दबाता हुआ मैं कई क्षण निःस्तब्ध बैठा रहा। फिर मैंने कहा—"जो एक बार गिरता है वह सँभल-सँभलकर चलता है, तारा!"

"लेकिन जहाँ गिरने का डर न हो क्या वहाँ भी फूँक-फूँककर क़दम रखना चाहिए ?"

विजय-गर्व से मेरा हृदय फूल उठा। यह निरीह हृदय उस निरीह हृदय की ओर आँधी-बवण्डर की तरह दौड चला। सीने पर दोनों हाथो को कसकर, बाँधकर, मैं ज़मीन की ओर देखने लगा।

सहसा कोई बन्द दरवाज़े की कुण्डी ज़ोर-जोर से खटखटाने लगा।

सहमकर तारा ने कहा—"कौन दरवाजा खटखटा रहा है ? वे हैं क्या ? आज इतनी जल्दी कैसे लौट आये ?"

कुण्डी की खडखडाहट बन्द न हुई। तब उठकर, बन्द दरवाज़े के समीप जाकर, तारा ने कुण्डी खोली।

जीवनलाल ने घर मे प्रवेश किया। उस समय वह बदमस्त था। उसके पैर लडखडा रहे थे। आँखे बीरबहूटी हो रही थीं। मेरी ओर देखकर वह ज़ोर से क़हक़हा मारकर हँसा।

"अल्लाह! आप..... हैं..... जनाब! वाह!"

"आदाब अर्ज़ है!"

"आदाब-बादाब...अपने पास...रखिए...जनाब! किसी की... ग़ैरहाज़िरी...मे उसकी·· बीवी से · इस तरह...घुल-घुलकर...बाते करना ...क...हाँ...की शराफत है...साहब?"

मेरे पैर के नीचे से ज़मीन खिसक गई! मै निःस्तब्ध बैठ रहा। क्रोधित होकर तारा ने कहा—"क्यों आयँ-बाँय बक रहे हो? इनको मैंने ही दावत दी थी।"

"तुमने...दा...वत दी...थी! तुम...और क्या.. करने के... लायक़ हो! ..एक को...दग़ा दे चुकी...हो...अब मुझे...भी छोडकर... निकल जाना।"

तारा क्रोध से पत्ते की तरह काँप रही थी। आँखो से सङ्केत करके मैंने उसे चुप रहने को कहा।

"अच्छा तो बाबू साहब...अब आप...चलते-फिरते...नज़र... आइए। और .....आइन्दा यहाँ कभी आने की तकलीफ़......न उठाइएगा।"

चारपाई से उठकर, खडे होकर, मन मे उठते हुए क्रोध को दबाते हुए, मैंने कहा—"बाबू साहब, इस वक्त आप अपने होश मे नहीं हैं। अब आप तबीयत सँभालकर सो जाइए। सबेरे जब आपको होश आ जायगा तो शायद आपको ख़याल आयेगा कि शरीफ आदमी अपने घर पर आये हुए कुत्ते को भी नहीं दुतकारता।"

"मुझे···होश आये···या न आये, आप यहाँ से···चले जाइए··· चले जाइए···चले जाइए।"

करुण दृष्टि से एक बार तारा की ओर देखकर मैं घर से बाहर निकल गया। उस समय मेरे हृदय मे विविध भावनाओ का तूफान भयङ्कर वेग से उठा हुआ था। 'जिसे नित्य दुःख ही दुःख मिलता है, क्या उसे कभी सुख न मिलना चाहिए?' तारा के ये मर्मभेदी शब्द मेरे कानो मे गूँज-गूँजकर वेदना के भार को अत्यधिक करने लगे।

घर पहुँचकर, अपने पलँग पर कटे हुए वृक्ष की तरह गिरकर, मै करवटे बदलने लगा।

रात किसी-किसी तरह कट गई। सबेरे मेरे कमरे मे उस घर की महरी ने प्रवेश किया। उसकी ओर मैंने प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा।

सिर हिलाते हुए वृद्धा ने कहा—"बहूजी ने आपको बुलाया है, भइया। उनकी तबियत अच्छी नहीं है। रात बाबूजी से झगडा हो गया था। उन्होंने बहूजी को बहुत मारा है।"

"मारा है?"

"हाँ, भइया, बहूजी का सिर फट गया है। बुखार चढ़ा हुआ है।"

"अच्छा, चलो, चलता हूँ, माई।" एक क्षण सोच-विचारकर, उठकर, मैं उसके साथ हो लिया।

उस घर में पहुँचकर मैंने देखा, दालान में एक चारपाई पर तारा अस्त-व्यस्त पडी हुई थी। उसके मत्थे पर पट्टी बँधी हुई थी, चेहरा पीला पड गया था। मुझे देखकर उसकी आँखो से आँसू बहने लगे। मेरी आँखें भी डबडबा आई।

"कैसी तबीयत है तारा?"

"बैठिए, बाबूजी," उठकर बैठते हुए तारा ने कहा।

"लेटी रहो, तकलीफ न करो।"

किन्तु वह उठकर बैठ गई। मै भी एक ओर खाट पर बैठ गया।

"कल जब आप यहाँ से चले गये तो उन्होने मुझे बहुत पीटा। मेरा सिर फट गया, सारा शरीर चूर हो गया। उसी गुस्से में वह घर

से निकल गये। जाते समय कहा कि मैंने तुझे छोड दिया, अब लौट-कर न आऊँगा। रात जब से गये अभी तक नहीं आये। हे भगवान्! क्या करूँ?"

"जाने दो तारा, वे रात मे नशे मे थे। दिन में किसी वक्त ज़रूर आ जायेंगे।"

"आपको कलङ्क लगाया, मेरी यह दुर्गति की। ऐसे आदमी का मुँह भी देखना पाप है। लेकिन...।"

मै निःस्तब्ध बैठा रहा।

"ऐसी ज़िन्दगी से तो मर जाना अच्छा है, बाबूजी।"

"सब्र करो, तारा। क्या करोगी?"

वह फफक-फफककर रोने लगी। मेरी विकलता भी बढ़ गई। किसी-किसी तरह उसे सान्त्वना देकर मै अपने घर लौट आया।

उस दिन मै दफ्तर न जा सका। मन मारे हुए सारे दिन मैं अपने कमरे मे पड़ा तडपता रहा। सन्ध्या आई और बीत गई, लेकिन मै कमरे से न निकला।

दस बजे रात का समय था। अपनी खुली छत पर एक चटाई पर मैं अस्त-व्यस्त पडा हुआ था। सहसा वह महरी छत पर आई।

"भइया!"

"क्या है, माई?"

उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थी। अवरुद्ध कण्ठ से उसने कहा—"भइया, जल्दी चलो। बहूजी की तबियत बहुत ख़राब है। उन्होने कुछ खा लिया है। बोली भी बन्द हो गई है। बडी मुश्किल से इतना कह पाई हैं कि आपको बुला लाऊँ।"

तुरन्त उठकर मै उसके साथ भागा।

उस घर मे तेज़ी से प्रवेश करके मैने देखा, दालान मे चारपाई पर तारा बेहोश पड़ी थी। उसका चेहरा काला पड गया था, आँखें धँस गई थीं, साँस तीव्र गति से चल रही थी।

"तारा !"

आँखें खोलकर उसने मेरी ओर देखा। फिर मुझे ऐसा जान पड़ा मानो वह बोलने की कोशिश कर रही है किन्तु वह कुछ न कह सकी। तब उसकी चढ़ी हुई आँखो से आँसू की दो बूँदे निकलकर कपोलो पर बह चली। हाथ जोडकर, एक बार मेरी ओर देखकर, उसने आँखे बन्द कर लीं। हाथ अलग-अलग होकर गिर पड़े। आँखें पथरा गईं, नाडी छूट गई। साँस एकाएक बन्द हो गई।

मेरी आँखों से आँसुओं की धार बहने लगी। उस समय उन्हें रोकने की कोशिश बेकार थी।

× × × ×

बाल-सूर्य की कौतूहलपूर्ण दृष्टि के नीचे, योगिनी जाह्नवी के पावन तट पर, तारा की चिता जल रही थी। सौन्दर्य और यौवन की वह अनुपम निधि अग्नि की लपटो मे हिल-मिलकर 'धू' 'धू' कर रही थी और उसकी वह चिर-सञ्चित ममता मानो अग्नि के वक्ष से निकल-निकलकर वायुमण्डल में व्याप्त हो रही थी।

कई मित्रो के साथ बैठा हुआ मैं यह सब देख रहा था। जीवनलाल का अभी तक कहीं पता न था। उसके आने की कोई आशा भी न थी। कदाचित् मै चाहता भी न था कि वह आवे।

चिता क़रीब-क़रीब जल चुकी थी। लपटें गाम्भीर्य धारण कर, आसन जमा कर, बैठ चुकी थीं। सहसा उस ओर से कोई आता हुआ दिखाई दिया। मैं ध्यान से देखने लगा। वह धीरे-धीरे निकट आने लगा।

वह जीवनलाल ही था। समीप आकर वह एक ओर चुपचाप खड़ा हो गया। उस समय भी वह नशे मे चूर था।

"बाबू जीवनलाल ! इधर आइए।"

मुडकर उसने मेरी ओर कडी नज़र से देखा। फिर लड़खडाता हुआ मेरे समीप आकर बैठ गया। घुटनो को हाथो से बाँधकर चिता की ओर एकटक देखने लगा। कई क्षण के बाद दृष्टि हटाकर, हाथों में

मुख छिपाकर, वह बिलख-बिलखकर रोने लगा। मेरे एक मित्र उसे चुप कराने की कोशिश करने लगे। दस मिनट के बाद वह चुप हुआ, आँखें सूखने लगी।

सहसा वह उठकर खडा हो गया, ठठाकर हँसा और एक ओर ज़ोरो से भागा। चकित होकर हम सब उस ओर देखने लगे......

रधिया

उसी के कारण उसका पति जेल मे था और वह युवती थी, रूपवती थी। पति-वियोग-जनित गहन विषाद उसके सुडौल शरीर के कण-कण मे निवास करता था। ग्राम के गुण्डो की सतृष्ण दृष्टियाँ जब उसके ऊपर पड़ती तो उसकी मनोवेदना हाहाकार कर उठती। किन्तु, ऐसी शोचनीय परिस्थिति मे भी जीवन का मोह उसके हृदय से निकाले न निकलता।

शीतकाल का प्रभात था। नभमण्डल मे चमकते हुए बाल-सूर्य का प्रकाश क्रमशः बढ रहा था। सुविस्तृत हरे-भरे खेतो के ऊपर तना हुआ घना कुहरा धीरे-धीरे घट रहा था। 'पुरवाई' बह रही थी। सख़्त सर्दी थी। अपने मटर के खेत मे बैठी हुई, ठिठुरती हुई, रधिया मटर की छीमियाँ तोड़ रही थी।

सहसा एक जवान किसान एक ओर आकर मेड़ पर खड़ा हो गया, और मुसकराता हुआ रधिया को घूरने लगा। रधिया को उसकी उपस्थिति का ज्ञान हो गया किन्तु उसने उसकी ओर दृष्टि नहीं उठाई।

"ए-हो"

रधिया चुपचाप छीमियाँ तोडती रही।

"इतने दिन से मैं तुम्हारे लिए चक्कर लगा रहा हूँ, मुदा, तुम न मेरी तरफ देखती हो न मुँह से बोलती हो!"

रधिया को क्रोध आ गया, किन्तु वह असहाय थी। निःस्तब्ध रही।

"किसी को इतना सताना ठीक नहीं होता। इस ग़रीब के ऊपर कुछ तो तरस खाओ।"

"ऐसी बातें मुझे अच्छी नहीं लगती।" रधिया ने झुँझलाकर कहा—"मुझे रण्डी-पतुरिया समझते हो क्या? यहाँ से सीधे-सीधे चले जाओ।"

"ऊँह-ऊँह! ऐसी नाराज़ी!"

"सामने से हट जा, चाण्डाल!" रधिया ने तीव्र स्वर में कहा—"नहीं तो अभी शोर मचा दूँगी!"

"अच्छा-अच्छा, ग़ुस्सा न दिखाओ, लो चला जाता हूँ। देखना है, कब तक यह ग़ुस्सा चलता है।" व्यङ्गपूर्ण दृष्टि से रधिया की ओर देखकर वह मुसकराता हुआ एक ओर चला गया।

निर्बल क्रोध ने आँसुओं की शरण ली। आँचल में मुख छिपा-कर वह सिसक-सिसककर रोने लगी। उसके आन्दोलित हृदय में उसका आश्रयहीन नारीत्व हाहाकार करने लगा।

आँसुओं की बाढ़ जब निकल गई और चित्त कुछ शान्त हो गया तो आँखें पोछकर डलिया उठाकर वह अपने घर की ओर चली। उसने किसी का क्या बिगाड़ा है फिर उसे लोग नाहक़ क्यों तङ्ग करते हैं? यह जटिल पहेली सामने आई। कोई और उत्तर खोजने में असमर्थ होकर उसका मस्तिष्क दुर्भाग्य को कोसने लगा। खोई हुई-सी जड़वत् वह चली जा रही थी।

घर जब सामने आ गया तो अर्धचेतना की दशा भङ्ग हुई। बन्द दरवाज़े के समीप जाकर, साँकल खटखटाकर, उसने आवाज़ दी—काकी!

"आती हूँ!" भीतर से उत्तर आया।

दो मिनट के बाद वृद्धा काकी ने दरवाज़ा खोला।

"बहुत जल्दी लौट आई, बिटिया!"

रधिया ने कोई उत्तर न दिया, घर मे प्रवेश कर दरवाज़ा बन्द कर दिया। फिर दालान मे जाकर, डलिया एक ओर रखकर, वह अस्त-व्यस्त बैठ गई। उसके समीप जाकर, उसके चेहरे की ओर ध्यान से देखकर, वृद्धा ने चिन्तित स्वर मे पूछा—कैसा जी है, बिटिया?

"अच्छा है, काकी"—रधिया ने मन्द स्वर मे उत्तर दिया।

"फिर तेरा चेहरा इतना क्यो उतरा हुआ है? किसी से झगडा हुआ क्या?"

रधिया की आँखो मे उमड़े हुए आँसू अब न रुक सके। आँचल मे मुख छिपाकर वह आँसू बहाने लगी। उसकी बग़ल मे बैठकर पीठ पर हाथ फेरते हुए वृद्धा ने कहा- "क्या बात है, बिटिया, बोलो!"

रधिया सिसकने लगी। वृद्धा के नेत्र भी सजल हो गये। उसे खीचकर—हृदय से लगाकर, उसने कहा—"रो···ओ···न बिटिया! धीरज······धरो।"

थोडी देर के बाद जब उसका चित्त कुछ शान्त हो गया, तो दीर्घ निःश्वास खीच कर रधिया बोली—"ऐसी जिन्दगी से मर जाना अच्छा है, काकी।"

"आख़िर, मामला क्या है? बताओ, बिटिया।"

"अभी जब मै छीमी तोड रही थी, तो वह बदमाश ग़ाजी फिर आया और मुझे छेडने लगा।"

"तुमने उसे डाँटा नहीं, बिटिया?"

"हाँ, काकी, मैंने उसे ख़ूब डाँटा, पर वह धमकी देकर चला गया।"

"धमकी देकर गया? हाँ, बिटिया, ग़ाज़ी बडा ही बदमाश है। अभी जाकर मै उसे ख़ूब फटकारूँगी।"

"नही, रहने दो, काकी। रोज़ ही तो ऐसा होता है। किस-किस से झगडा करती फिरोगी?"

"हाँ, यह बात तो है, बिटिया। इसी लिए तो कहती हूँ, बिटिया, कि दूसरा आदमी कर लो। सुखराम के छूटने मे अभी कई बरस की देर

है। तब तक तुम्हारा काम कैसे चलेगा? दुनिया बड़ी खराब है। इसी गाँव में इतने आदमी तुम्हारी इज्जत उतारने पर उतारू हैं; मुदा, तुम कहीं फिसल जाओ, तो सारा गाँव हँसे और दुत्कारे। इस दुनिया में बिना मर्द के किसी औरत की इज्ज़त बची रहना कठिन है।" इतना कहकर बूढ़ा रधिया के चेहरे की ओर ध्यान से देखने लगी।

"तुम कहती तो ठीक हो, काकी, मुदा..... !"

"ऐसा करोगी बिटिया, तो कोई भला आदमी तुम्हारी बुराई न करेगा। सुखराम को मैं अच्छी तरह जानती हूँ। वह भी जब जेल से छूटेगा तो तुम्हें कुछ न कहेगा। वह बड़ा भला आदमी है।"

गहन विचारों में खोई हुई रधिया निःस्तब्ध मूर्तिवत् बैठी रही।

दिन का तीसरा पहर था। सतुआ खाकर विश्राम करने के लिए रधिया खाट पर लेटी हुई थी। किन्तु उसके आन्दोलित मस्तिष्क में विकल विचारों का तूफ़ान उठा हुआ था। अतीत के वक्ष से निकलकर एक हृदयद्रावक दृश्य उसकी कल्पना के सामने आया—थाने का लम्बा-चौड़ा आँगन दर्शकों से भरा था। वर्दीपोश कांस्टेबिल इधर-उधर खड़े थे। आँगन के मध्य में कुरसियों पर छोटे और बड़े दारोग़ा बैठे हुए थे। उनके सामने साफ़ चद्दर से ढँकी हुई एक लाश रक्खी हुई थी। उसके समीप रधिया का पति सुखराम, हथकड़ी पहने सिर झुकाये बैठा हुआ था। एक ओर बैठी हुई रधिया आँसू बहा रही थी। वह लाश एक ज़िलेदार की थी, जो रधिया को ज़बर्दस्ती उसके घर से उठवा ले गया था। सुखराम ने उसकी हत्या की थी।

रधिया की आँखों में आँसू उमड़ने लगे। जिस पति ने उसके लिए इतना किया था, उसे धोखा देना क्या उचित होगा? नहीं, कदापि नहीं। किन्तु क्या इसे धोखा देना कह सकते हैं! गाँव के कितने ही बदमाश उसकी इज्जत लेने पर तुले हुए हैं और रक्षा का कोई अन्य उपाय नहीं है। "ऐसा करोगी बिटिया, तो कोई भला आदमी तुम्हारी बुराई न करेगा। सुखराम को मैं अच्छी तरह जानती हूँ।

वह भी जब जेल से छूटेगा तो तुम्हे कुछ न कहेगा। वह बडा भला आदमी है।" उसे काकी की याद आई।

पति से बिछुडकर उसने जो कुछ खो दिया था, उसके कुछ अंश की पूर्ति वृद्धा काकी के द्वारा हो गई थी। वह उसे बेटी की तरह मानती थी। रधिया भी उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। वृद्धा के आदेश के औचित्य को उसका मस्तिष्क स्वीकार करता था, किन्तु हृदय सङ्कल्प-विकल्प मे पडा था। असीम विकलता की दशा मे वह करवटे बदलती रही।

(२)

कडेदीन सुखराम का स्वजातीय तथा घनिष्ठ मित्र था। सुखराम के मुक़दमे की उसने पैरवी की थी। मित्र के जेल चले जाने के बाद कभी-कभी आकर वह रधिया का हाल-चाल पूछ जाता और आवश्यकता-नुसार उसे आर्थिक सहायता भी देता था। उसके पास चार बैल, दो गाये, तीन भैंसे और चार-पाँच बछिया-बछडे थे, और उसके खेत भी उपजाऊ थे। इस तरह वह सम्पन्न कृषक था, और वह अभी युवा ही था, हृष्ट-पुष्ट भी। किन्तु वह विधुर तथा निःस्सन्तान था। रधिया को देखकर उसके मन मे मधुर भावनाये उठती थीं, किन्तु इस सम्बन्ध मे ज़बान खोलने का उसे साहस न होता था। प्रति बार अगाध आशा लेकर वह रधिया के पास आता और निराश लौट जाता था। किन्तु...

उपर्युक्त घटना के दूसरे दिन तीसरे पहर आकर कड़ेदीन ने आवाज दी—काकी!

"कौन आवाज़ दे रहा है काकी?"

"शायद कडेदीन है। देखो, जाकर देखती हूँ।" अपनी खाट से उठकर वृद्धा कोठरी से बाहर निकली।

मत्थे तक घूँघट निकालकर, कोठरी से निकलकर, रधिया दालान मे खडी हो गई। उसके हृदय मे कडेदीन के प्रति कृतज्ञता थी और कृतज्ञता ने श्रद्धा को जन्म दिया था। कड़ेदीन को देखकर उसे बडी प्रसन्नता

होती थी और वह उसकी प्रतीक्षा करती रहती थी। किन्तु इन दिनों वह जब उसकी ओर देखता था तो उसकी आँखो मे एक विशेष भाव आ जाता था, जिसे देखकर वह सिहर उठती थी और उसका हृदय तीव्र गति से धड़कने लगता था। उसके सामने निकलने मे अब उसे सङ्कोच तो होता था, किन्तु ऐसे शुभचिन्तक का निरादर करना भी अनुचित था।

वृद्धा कडेदीन के साथ वापस आई। दालान मे पडी हुई खाट की ओर सङ्केत करके उसने कहा—"बैठो, भइया।"

खाट पर बैठकर कड़ेदीन ने कहा—"कैसा हाल-चाल है काकी।"

"कुशल है भइया। अपना हाल-चाल कहो।"

"मेरा हाल मत पूछो काकी। किसी तरह दिन काट रहा हूँ।"

"काहे भइया। क्या बात है?"

एक दीर्घ निःश्वास खींचकर करुण स्वर में कडेदीन ने कहा—"भगवान् ने खाने को दिया है काकी, मुदा कोई दो रोटी पकाकर देनेवाला नही है। अपने हाथ से पकाओ तो खाओ। सारे दिन बैल की तरह काम करता हूँ और रात मे चूल्हे के सामने बैठकर आँखें फोडता हूँ। इस ज़िन्दगी से मुझे ज़रा भी सुख नहीं है।"

रधिया का हृदय भर आया और उसकी आँखो मे आँसू छलक आये। आँसू छिपाने के लिए तुरन्त उठकर वह कोठरी मे चली गई। गम्भीरता से सिर हिलाते हुए सहानुभूतिसूचक स्वर मे वृद्धा ने कहा—"बिना औरत के मर्द का काम मुसकिल से चलता है, दूसरी औरत क्यो नहीं कर लेते भइया?"

"दूसरी औरत करने मे तो कुछ हर्ज नहीं है काकी, मुदा कोई अच्छी औरत मिले तब तो?"

थोडी देर तक निःस्तब्ध रहकर वृद्धा से कहा—"रधिया को रख लो तो कैसा हो भइया?"

"बहुत अच्छा हो काकी।" मुसकराते हुए कड़ेदीन ने कहा—"क्या वह राज़ी है?"

"अभी तो वह राज़ी नही है भइया, मुदा कहने-सुनने से शायद हो जाय।"

"उसे राज़ी करो काकी, तुम्हारा बडा जस मानूँगा।"

"इसी मे उसकी भलाई है भइया। रोज़ उसे बदमास तङ्ग करते हैं। सुखराम के छूटने मे अभी कई साल लगेगे। बिना दूसरा आदमी किये उसका काम न चलेगा।"

"ठीक कहती हो काकी! दुनिया ख़राब है। यहाँ भलाई करनेवाले कम है, बुराई चेतनेवाले बहुत हैं।"

"बिटिया!"

"हाँ!" कोठरी के भीतर से आवाज़ आई।

"ज़रा इनके लिए चिलम भर दो बिटिया।"

"अच्छा।"

"रहने दो काकी, चिलम की क्या ज़रूरत है?"

"नही भइया, दो फूँक पी लो। तुम तो हम लोगो के लिए इतना कर रहे हो और हम इतना भी न करे!"

चिलम, तम्बाकू और नारियल लेकर रधिया कोठरी से बाहर निकली और धीरे-धीरे रसोईघर की ओर बढी। उपर्युक्त वार्तालाप का कुछ अश सुन लेने के कारण उसका सङ्कोच बहुत बढ गया था। इसलिए बडी कठिनाई से वह कोठरी से बाहर निकली थी। उस समय विविध भावनाये उसके उद्वेलित मन मे ताण्डव-नृत्य कर रही थी।

किसी तरह चिलम भरकर, नारियल पर चढाकर, रसोईघर से निकलकर, दालान मे जाकर, कड़ेदीन की ओर जब उसने नारियल बढाया तो उसका हाथ काँप रहा था। मुसकराकर, उत्सुक आँखो से रधिया के आरक्त मुखमण्डल की ओर देखकर, नारियल लेकर कडेदीन कश पर कश खींचने लगा। सिर झुकाये हुए मुडकर रधिया कोठरी की ओर बढी।

"कल से इसका जी कुछ ख़राब है भइया !" वृद्धा ने कहा—"हाँ बिटिया, जाओ, आराम करो।"

"क्या तकलीफ है काकी ?" कडेदीन ने चिन्तित स्वर मे पूछा।

"कुछ भारीपन है भइया।"

"तो कोई दवाई ला दूँ काकी ?"

"नहीं रहने दो भइया, इसे चिन्ता का रोग है। दवाई खाकर यह अच्छी न होगी।"

"हाँ काकी, ठीक कहती हो," दीर्घनिःश्वास खींचकर उसने कहा। "चिन्ता का रोग दवाई खाने से अच्छा नही हो सकता। जैसी चिन्ता इसे है शायद किसी को न होगी। कितनी दुबली हो गई है।"

कोठरी में पहुँचकर रधिया खाट पर गिर पडी। हाँ! नही, नहीं यह नही होगा; जो उसे इतना प्यार करता था, जिसने उसके लिए इतना किया था, उसे वह धोखा न दे सकेगी। किन्तु क्या इसे धोखा कह सकते हैं ? नहीं ! किन्तु......।

वृद्धा से वादा लेकर जब कडेदीन चला गया तो उसने कोठरी मे प्रवेश किया।

"बिटिया।"

"हाँ," क्षीण-स्वर में रधिया बोली।

"नहीं काकी, यह नही हो सकता।"

"क्या ?"

"अच्छा, तुमने सुन लिया था। यह अच्छा ही हुआ। मुदा तुम बिना अच्छी तरह सोचे-समझे इनकार कर रही हो, यह बडी ख़राब बात है।"

"नहीं काकी, मैंने अच्छी तरह सोच-समझ लिया है। यह मुझसे न हो सकेगा।"

"फिर तुम्हारा काम कैसे चलेगा बिटिया।"

"जैसे...चल रहा है काकी।"

"नहीं बिटिया, तुम ग़लती कर रही हो। तुम कुढ-कुढकर घुलती जा रही हो और बदमास तुम्हे रोज तङ्ग कर रहे हैं। किसी दिन कोई बदमास कुछ ज्यादती कर बैठा, तब तो तुम्हारा सब-कुछ चला जायगा, तुम कहीं की न रहोगी। कडेदीन जवान है, उसके घर में सम्पत भरी है और देखो वह बेचारा कितना दुखी है! मुझे तो यही उचित जान पडता है कि तुम उसके घर मे बैठ जाओ।"

"नही...काकी!" रधिया ने मन्द स्वर मे कहा।

"सुखराम...क्या नहीं चाहता कि तुम अपने को बदमासो से बचाओ? जरा सोचो तो बिटिया।"

रधिया के हृदय मे हूक उठी, आँखो मे बाढ़ आई और अश्रु-वृष्टि होने लगी। वृद्धा की आँखो मे भी आँसू छलक आये।

बडी देर तक दोनो निःस्तब्ध रही। फिर आँचल से आँखे पोंछकर रधिया ने रुँधे हुए कण्ठ से कहा—"काकी!"

"हाँ...बिटिया!"

"तुम...जो चाहो...करो। मै...राज़ी...हूँ।"

वृद्धा का सूखा हुआ चेहरा खिल उठा।

(३)

बैठकी हो गई। रधिया कडेदीन की हो गई। वृद्धा के सिर से उत्तरदायित्व का भारी बोझ उतर गया। उसने सन्तोष की साँस ली।

अपने नये घर मे पहुँचकर रधिया आनन्दित तो नही हुई, किन्तु उस दुःखद परिस्थिति से मुक्त होकर सन्तुष्ट अवश्य हुई। अतीत की अवहेलना होने लगी और उसका रोगग्रसित अस्तित्व स्वस्थ होकर उस नूतन वातावरण पर क्रमशः अपना प्रभुत्व स्थापित करने लगा।

कडेदीन के आनन्द की तो सीमा ही न थी। फूला-फूला फिरता था। उसका उजडा हुआ घर बस गया, बिगडी हुई गृहस्थी सुधर गई। उसके कर्मशील जीवन का सूखा हुआ सुख-स्रोत पुनः प्रवाहित हो गया।

कई मास बीत गये। तब वही हुआ जो दाम्पत्य-जीवन मे साधारणतया हुआ करता है, खटक पैदा हो गई। विरोधी भावनाये जाग पडीं। गृहस्थी का वृक्ष जड से चोटी तक काँप उठा। कडेदीन परिश्रम-प्रेमी कृषक था। मशीन की तरह काम करता था और रघिया से भी इसी तरह काम करने की आशा करता था। किन्तु रघिया अपने पहले पति के रङ्ग मे रँगी थी, जो परिश्रमी था—किन्तु अल्हड़ प्रेमी भी था। वह भरसक परिश्रम कर सकती थी, किन्तु जड़ मशीन बन जाने की क्षमता उसमें न थी। कड़ेदीन के स्वभाव मे कर्कशता थी। रघिया से जब कभी कोई भूल हो जाती तो वह उसे खूब डाँटता-फटकारता। डाँट-फटकार सहने मे रघिया अभ्यस्त न थी। जब तक सम्भव होता, वह भी ज़ुबान लडाती और जब हार जाती तो आँसू बहाने लगती।

दोनो एक-दूसरे को आवश्यक तो अवश्य मानते थे, किन्तु दोनो मन मे एक दूसरे की कड़ी आलोचना करते थे। कडेदीन सोचता था—'दूर का ढोल सुहावना होता ही है। मै तो इसे बडी समझदार और मेहनती औरत समझता था, पर यह तो पक्की बेवक़ूफ़ और कामचोर निकली। हर काम मे गडबडी करती है और कुछ कहो तो लडती है। इसके साथ मेरा निर्वाह कैसे होगा! जब देखो मुँह लटकाये रहती है, शायद सुखराम की याद मे बेचैन रहती है। फिर यह मुझे कैसे प्यार कर सकती है? मुझे बडा धोखा हुआ' और रघिया सोचती थी—"यह तो बडा लडाका है। इसकी नाक पर ग़ुस्सा रहता है। बात-बात पर आँखें दिखाता है और जी भरकर जली-कटी सुनाता है। मै तो इसे बडा अच्छा आदमी समझती थी पर यह तो कुछ न निकला। सचमुच, बिना किसी के साथ व्यवहार किये उसके स्वभाव की सच्ची परख नहीं हो सकती। अभी यह हाल है तो आगे क्या होगा। काकी ने मुफ्त मे मुझे इसके गले बाँध दिया! वह (सुखराम) मुझे कितना प्यार करता था। हर वक्त मेरा मुँह देखा करता था और मुझसे भूल हो जाती थी तो मुझे एक बात भी नहीं कहता था। इस झमेले मे न फँसती तो अच्छा

होता। ख़ैर, जो हुआ सो हुआ।" हाड़-मांस के वे दोनो पुतले एक मशीन के दो पुरज़ो की भाँति चलते तो जाते थे, किन्तु एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते थे।

एक दिन की बात है। दिन का तीसरा पहर था। एकाएक तबीयत भारी हो जाने के कारण कड़ेदीन खलिहान से घर लौट आया।

"इतनी जल्दी कैसे लौट आये?" रधिया ने कड़ेदीन के चेहरे की ओर देखकर पूछा।

"जी कुछ भारी जान पड़ता है।" और वह अपनी कोठरी की ओर बढा।

दालान मे जाकर, टाट पर बैठकर, रधिया कथरी सीने मे लग गई और कडेदीन कोठरी मे पहुँचकर खाट पर अस्त-व्यस्त लेट गया। कुछ समय तक वह रधिया की प्रतीक्षा करता रहा। किन्तु जब वह न आई तो उसके क्रोध का पारा चढने लगा। 'यह जानकर भी कि मेरा जी अच्छा नही है, वह मेरे पास नहीं आई। मुझसे इतना पाकर भी उसका दिल नही पसीजता। इसका दिल पत्थर का हे, पूरी डायन है। उसे बुलाना चाहिए। नही, नही, कोई ज़रूरत नही है।' आह भरकर, करवटे बदलकर, वह दीवार की ओर ताकने लगा। कई मिनट बीत गये तब उसने ज़ोर से आवाज़ दी—रधिया!

"क्या है?"

उसने उत्तर नही दिया, मन मे खीझता हुआ चुपचाप पडा रहा। कई क्षण के बाद फिर आवाज़ आई—"बोलो भाई, क्या है?"

"पानी दे जा। वहीं से चिल्लाती है। यहाँ आकर पूछते नहीं बनता।"

कथरी सीने मे रधिया का मन लगा था, इसलिए पति की साधारण अस्वस्थता की ओर उसने विशेष ध्यान नहीं दिया था। पति के शब्द उसे बुरे लगे। अवहेलना के भाव से प्रेरित होकर वह कई मिनट तक कथरी सीती बैठी रही। फिर कथरी छोडकर, उठकर, एक साफ लोटे मे जल लेकर वह उस कोठरी की ओर चली।

रधिया ने ज्योंही कोठरी मे प्रवेश किया, कड़ेदीन ने व्यंगपूर्ण स्वर मे कहा—अब आई हैं !

"कथरी सीने मे लगी थी।"

"तेरी कथरी भाड मे जाय !" कड़ेदीन गरजा।

"तुम तो बेमतलब आँख दिखाया करते हो। क्या मै खेल रही थी ?"

"चुप रह, हरामज़ादी !"

"मुझे गाली मत दिया करो !"

बस, कड़ेदीन आपे से बाहर हो गया। उछलकर वह खाट से उतरा और रधिया के ऊपर घूँसो और थप्पड़ो की वर्षा करने लगा। लोटा एक ओर रखकर, बैठकर वह रोने लगी। तब खाट पर लेटकर कड़ेदीन बडबड़ाने लगा—"हरामजादी का मिजाज ही नही मिलता। छोड़ दूँगा ससुरी को ! फिर कभी जबान लडाई तो जीभ काट लूँगा।"

कुछ देर के बाद जब वह चुप हो गया तो रधिया उठकर कोठरी से बाहर निकल गई। दालान में पहुँचकर, ज़मीन पर लोट-लोटकर, वह सिसकने लगी। उसकी मनोवेदना का वारापार न था। अपने वैवाहिक जीवन मे आज उसने पहली बार मार खाई थी। उन घूँसो और थप्पड़ो की प्रतिध्वनियाँ उसके मस्तिष्क और हृदय मे गूँज रही थीं। सहसा उसकी अन्तर्दृष्टि के सामने सुखराम की मूर्ति आकर खड़ी हो गई। असीम करुणापूर्ण दृष्टि से वह उसकी ओर देख रहा था। जलविहीन मीन की भाँति उसका हृदय तडपने लगा। दृश्य बदल गया। रधिया दिवा-स्वप्न देखने लगी—गोधूलि का समय था। दिन भर खेतो मे मेहनत के बाद सुखराम अभी घर लौटा था। रधिया के उतरे हुए चेहरे की ओर देखकर उसने चिन्तित स्वर में पूछा—"कैसा जी है रे ?" "कुछ ख़राब है।" रधिया ने उखड़े हुए स्वर में उत्तर दिया। "क्या तकलीफ है ?" "सिर मे दर्द है।" तब वह उसे कोठरी में खींच ले गया। हाँडी से प्याली मे तिल का तेल लेकर,

[illegible] ज़बरदस्ती खाट पर लेटाकर, वह उसके सिर मे तेल ठोकने लगा। वह उसे बराबर रोकती रही, किन्तु वह तेल ठोकता गया। उस समय का वह प्रेमालाप ! वह सद्व्यवहार !

तडपकर, करवट बदलकर रधिया ने अपना सिर जमीन पर पटक दिया। सिर फट गया, रक्त बहने लगा। रक्त की उन बूँदो में उसके प्रताडित हृदय की सिसकियाँ भरी थी।

जब कडेदीन का क्रोध कुछ शान्त हो गया, तब खाट से उतरकर, कोठरी से निकलकर उसने रधिया की ओर देखा। मान उसके हृदय से खिसकने लगा। धीरे-धीरे वह उसके समीप पहुँचा। स्तम्भित होकर, ज़मीन पर बैठकर, उसने उसे अपनी गोद मे खीच लिया। फिर अपनी धोती की कोर से वह उसके मत्थे से रक्त पोछने लगा। उसकी आँखो मे आँसू छलक आये।

(४)

कई वर्ष बीत गये। उस छोटी-सी गृहस्थी मे जो एक अभाव था उसकी पूर्ति भी हो गई। दो से तीन हो गये। उस छोटे-से घर मे एक नन्हे-से बालक की किलकारियाँ गूँजने लगी। इस नई कडी ने ज़ञ्जीर के दोनो अलग पड़े टुकडो को जोड दिया। दोनो एक दूसरे को समझने और उदारता की दृष्टि से देखने लगे। उनके पारस्परिक जीवन-प्रदेश मे सुख-सूर्य, कुहरे का परदा फाडकर, प्रकाश-वर्षा करने लगा।

सन्तान का प्रबल इच्छुक कडेदीन अबोध शिशु भवानीदीन को पाकर बहुत कुछ बदल गया। भवानीदीन उसके मन मे बस गया। उसके स्वभाव की कर्कशता क्रमशः घटने लगी। पुत्र की सेवा और मनोरञ्जन मे उसका फ़ालतू समय ख़र्च होता और खेतों में काम करते समय भी उसे उसकी याद आती रहती।

और रधिया ? उसके हृदय का आनन्द स्रोत, जो एक मुद्दत से सूखा पडा था, फिर प्रवाहित हो गया और उसका प्रताडित नारीत्व, मातृत्व की विभूति पाकर अपने विकास-क्रम की चरम-सीमा पर पहुँच गया।

तीसरा पहर आरम्भ हो गया था। खाट से उठकर पुत्र का मुख चूमकर, उसे रधिया की गोद में देखकर, मिर्ज़ई पहनकर, पगड़ी बाँधकर, अँगोछा कन्धे पर रखकर, जूते पहनकर, लाठी लेकर, रधिया की ओर देखकर कड़ेदीन ने कहा—"अच्छा, अब मैं जाता हूँ। 'भवानी' को सुला देना।"

"अच्छा", पुत्र के मुख की ओर देखते हुए, रधिया ने उत्तर दिया।

कड़ेदीन दालान से आँगन मे उतरा और घर के दरवाज़े की ओर बढ़ा।

दरवाज़े के बाहर पहुँचकर, रुककर, उसने आवाज़ लगाई—"किवाड़ बन्द कर ले रे!"

"अच्छा, तुम जाओ", रधिया ने चिल्लाकर उत्तर दिया—"मै अभी बन्द कर लूँगी।"

तब वह चला गया।

थोड़ी देर के बाद पुत्र को गोद मे लिये हुए रधिया टाट से उठी और दरवाजे की ओर बढ़ी। दरवाजे के समीप पहुँचकर, साँकल चढ़ाकर, दालान में लौटकर वह खाट पर जा लेटी और भवानीदीन की पीठ पर थपकियाँ दे-देकर लोरी गाने लगी—'आजा निदरिया, आई न जा; भइया को सोआई न जा।'

माँ के सीने से लिपटा हुआ, "हूँ—हूँ—हूँ!" करता हुआ, वह झपकियाँ लेने लगा। थोड़ी देर के बाद जब वह सो गया तो उसकी पीठ पर हाथ फेरती हुई, मुसकराती हुई, सामने दीवार की ओर देखती हुई रधिया सोचने लगी—दिन लौटते देर नहीं लगती। मुझसे अधिक सौभाग्यवती कौन होगी? भरा-पूरा घर है, काम-काजी पति है और—भवानीदीन है। इससे अधिक मुझे क्या चाहिए?

सहसा किसी ने दरवाज़े की साँकल खटखटाई और आवाज़ लगाई—कड़ेदीन!

यह आवाज़ रधिया के कानों में गूँजी और उसका हृदय भी झंकृत हो उठा। वह सिहर उठी। कौन बुला रहा है? आवाज़ तो सुपरिचित जान पड़ती है! खाट छोडकर वह तुरन्त दरवाज़े की ओर लपकी।

ज़ञ्जीर फिर खटखटाई गई। दरवाज़े के समीप पहुँचकर, साँकल उतारकर, उसने एक पल्ला खोला। सुखराम सामने खडा था। उसकी बढ़ी हुई दाढी और मूँछें रधिया की दृष्टि को धोखा न दे सकीं। चीख़-कर वह पीछे हट गई।

"रधिया!"

वह भीतर भागी। तुरन्त बन्द पल्ले को पैर से ठेलकर सुखराम घर मे घुसा और भागती हुई रधिया के पीछे झपटा।

दालान मे पहुँचकर, खाट के समीप खडी होकर, रधिया थर-थर काँपने लगी। उसके समीप पहुँचकर, रुककर, कोट की जेब से छुरी निकालकर, उसकी ओर आग्नेय नेत्रो से देखता हुआ सुखराम गरजा—रधिया।

तुरन्त ज़मीन पर बैठकर, उसके पैर से लिपटकर, रधिया ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी।

"बाज़ारू औरत!" असीम घृणा तथा क्रोध-मिश्रित स्वर मे वह बोला—"चुप हो जा।"

दहलकर वह चुप हो गई।

"तू ने दूसरा मर्द क्यो कर लिया? क्या मै मर गया था?"

रधिया ने सिसकते हुए कहा—"अगर...मैं ऐसा...न करती.. तो कही की न रहती, तुम्हारे...गाँव के...बदमास...मेरी इज्जत...लेने पर ...तुले हुए . थे।"

वह स्तम्भित रह गया। तो कारण यह है-। तब इसका क्या दोष है? कुछ नही। इसे मारकर क्या मिलेगा! कुछ नहीं।

उसके हृदय मे उदासीनता ने पुनः पदार्पण किया। तब, उसकी दृष्टि खाट की ओर गई। नन्हा भवानीदीन बाल-सुलभ मस्ती भरी

नींद का मजा ले रहा था। सुखराम की उदासीनता करुणा मे हो गई। इस बसे हुए घर को उजाडना क्या उचित है? नही, हा, नही। जो कुछ उसके भाग्य मे नहीं है उसकी याचना करना व्यर्थ है। और, उसके लिए वह तो हई है जो अभी तक प्राप्त था।

छुरी जेब मे रखकर उसने मन्द स्वर मे कहा—"मेरे पैर छोड दे।"

चकित होकर, उसके पैर छोड़कर, कौतूहल-पूर्ण दृष्टि से वह उसके चेहरे की ओर ताकने लगी।

"जो कुछ तूने किया अच्छा किया। ले, मै चला जाता हूँ। चैन से रह।" और वह दरवाज़े की ओर बढा।

"कहाँ जाते हो? ठहरो।"

रधिया की दर्द भरी आवाज़ उसके कानो मे गूँजकर उसे पीछे ढकेलने लगी किन्तु वह बलपूर्वक आगे बढकर उस घर से बाहर हो गया।

रधिया दरवाज़े पर जाकर उस ओर जाते हुए अपने प्रथम पति की ओर सजल नेत्रो से ताकने लगी। जब वह दृष्टि से ओझल हो गया तो दरवाज़ा बन्द करके वह दालान मे लौटी और ज़मीन पर लोट-लोटकर आँसू बहाने लगी।

सहसा भवानीदीन चीख़ उठा। तब आँखें पोछकर वह उठी और खाट पर लेटकर, पुत्र को हृदय से लगाकर, उसकी पीठ पर थपकियाँ देने लगी।

एक मास बाद रधिया ने सुना कि चोरी के अपराध मे सुखराम को ढाई वर्ष की सज़ा हो गई। उसे बडा आश्चर्य हुआ। उसने चोरी क्यो की, दूसरी औरत क्यो नही रख ली? क्या वह इतना ख़राब हो गया है कि जुर्म किये बिना नही रह सकता? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। यदि यह बात होती तो वह मुझे क्षमा न करता। फिर वह जेल क्यो गया? क्या वह मुझे अब भी प्यार करता है? शायद यही बात हो। एक दीर्घ निःश्वास उसके मुख से निकला और उसकी आँखे सजल हो गईं।

---

(१)

गोधूलि वेला थी। सूर्यास्त की अरुणिमा निशीथ की कालिमा मे क्रमशः परिणत हो रही थी। विराट् शून्य के वक्ष से एक-एक करके तारकाये निकल-निकलकर मुस्कराने लगी थी। गाँव के झोपड़ों से धुएँ के बादल उमड रहे थे। निकटवर्ती वृक्षोद्यान के छतनार वृक्षों की असंख्य डालो पर बैठे हुए असंख्य पक्षियो के कलरव से दिशाये गूँज रही थीं।

गाँव से निकलकर एक अधेड़ स्त्री बाग़ मे घुसी। उसके शरीर पर गाढे की साफ साडी थी, हाथ मे पीतल की एक डोलची। संध्याकालीन समीर अठखेलियाँ करने लगा। हिलोरे लेते हुए पल्लवो के झुरमुट में बैठी हुई कोकिल कूकने लगी। 'कुहू-कुहू' की स्नेह-मृदु प्रतिध्वनियाँ वायु मे गूँज-गूँजकर दिशाओ को मधुर वेदना से भरने लगी। उदासीन मन की मधुर पीडा से आन्दोलित, साड़ी के फडफडाते हुए कोरो को सँभालती हुई, वह उस देवालय के समीप गई जो उद्यान के मध्य में स्थित था। टूटी हुई सीढ़ियो से चबूतरे पर चढ़कर उसने मन्दिर मे प्रवेश किया।

डोलची एक ओर रखकर, घुटनो के बल बैठकर, फ़र्श पर माथा टेककर उसने प्रणाम किया। फिर घी से भरा हुआ दीपक डोलची से निकालकर जलाया। मन्दिर प्रकाश से जगमगा उठा। फ़र्श के मध्य मे सिंहासन पर शिव-लिङ्ग स्थापित। ऊपर मिट्टी का एक घडा टँगा हुआ था, जिसके पेंदे से निकल-निकलकर जल की बूँदें मूर्ति पर टपक रही थीं। फूल और अक्षत चढाकर उसने आरती की। फिर हाथ जोडकर, आँखें मूँदकर, वह ध्यान में मग्न हो गई। बड़ी देर तक वह उसी तरह ध्यानस्थ बैठी रही। बन्द पलकों से आँसू की बूँदें निकलीं और झुर्रियो पर ढुलककर सूख गईं।

"पी—कहाँ! पी—कहाँ! पी—कहाँ!" निःस्तब्धता के उस साम्राज्य मे पपीहे की अन्तर्वेदना सहसा चीत्कार कर उठी।

जो चिरसञ्चित लालसा-पूर्ति की कामना लेकर इस समय उपासना मे संलग्न थी, अज्ञात आशङ्का से तडप कर सहसा रो पडी। भावावेग से सिहरकर उसने आँखें खोल दीं। शिव-लिङ्ग पर चढा हुआ एक फूल खिसककर फर्श पर गिर पड़ा। फूल उठाकर, आँखो से लगाकर, डोलची मे रखकर, माथा टेककर उसने प्रणाम किया। फिर डोलची उठाकर वह मन्दिर से बाहर निकली।

"कुहू—कुहू—कुहू!"

बैरिनी कोकिल फिर कूक उठी। वेदना का मृदु कम्पन फिर दिशाओं मे गूँज उठा। किन्तु इस समय उस स्त्री के हृदय में विचित्र शान्ति थी। मन्दिर के कलश पर बैठा हुआ एक उलूक चीख़ उठा। किन्तु उसकी उस चीख़ में इस समय उसकी स्वाभाविक कर्कशता न थी। ऐसा जान पडा, मानो जीवन का कोई रहस्य समझकर वह हँस पडा हो। स्त्री के मुखमण्डल पर भी मुस्कान व्यक्त हो गई।

सीढियो से उतरकर, बाग़ से निकलकर वह फिर गाँव में चली गई।

(२)

वह कौन थी?

विधवा तो वह न थी, किन्तु विधवा से कहीं दुःखद थी उसकी दशा। पति की छत्रच्छाया से वञ्चित होकर, रो-पीटकर निरवलम्ब विधवा शान्त हो जाती है। गये-बीते को गया-बीता मानकर, अपने उपास्य-देव की भग्न प्रतिमा को हृदय की मरुभूमि मे गाडकर वह एक नये संसार की सृष्टि करने लग जाती है। निरवलम्ब को नूतन अवलम्ब मिल जाता है। किन्तु वह जो पति की छत्रच्छाया से वञ्चित हो पर यह न जानती हो कि उसका पति जीवित है या नहीं, उसकी शोचनीय दशा का अनुमान सहज ही में किया जा सकता है। वह निरवलम्ब है, किन्तु नूतन अवलम्ब पाने की अधिकारिणी नहीं। सुभागी की ठीक यही दशा थी।

ऐसा हुआ क्यो !

रात के ग्यारह बज चुके थे। अवतार ने अपने उस साधारण-से मिट्टी के झोपड़े मे जाकर देखा, सुभागी आँगन मे बाँस की एक छोटी-सी खाट पर पडी हुई सो रही थी।

"उठ रे, खाना दे।"

सुभागी उठी नहीं, वैसी ही पडी रही।

"उठ रे! आज कहाँ की नींद फट पडी, सरे साम ही खुर्राटा लेने लगी!"

सुभागी आँख मलती हुई उठ बैठी।

"चल खाना दे। तुझे दिन-रात सोने ही की पडी रहती है।"

"तो तुम्हीं कौन लढ़ी पेलते रहते हो! आधी रात बीत गई, इन्हे अभी साँझ ही है।"

"आधी रात तो अभी नहीं हुई। दस का अमल होगा।"

खाट से उतरकर सुभागी ने हाथ-पैर धोये; फिर सामने ताख पर रक्खी हुई मिट्टी के तेल की ढिबरी लेकर चौके मे चली गई। मिर्ज़ई उतारकर, हाथ-पैर धोकर, अवतार भी चौके मे जा बैठा।

पीतल की साफ थाली मे बाजरे की चार मोटी-मोटी रोटियाँ, नमक और लाल मिर्च रखकर सुभागी ने थाली पति के सामने खिसका दी।

थाली की ओर देखकर अवतार की भूख मर गई। लेकिन अन्दर उठते हुए रोष को दबाकर वह खाने लगा। दो-तीन कौर खाकर उसने कहा—"आज दाल क्यो नहीं बनाई रे!"

"दाल कहाँ रक्खी थी कि बनाती! कुछ काम-धन्धा करो तो अच्छा खाना मिले। मुदा तुम्हे तो दिन-रात दम लगाने से मतलब रहता है।"

नशे की गर्मी, दबे हुए क्रोध पर व्यंग्य की चोट, अवतार आपे से बाहर हो गया। गरजकर बोला—"दम लगाता हूँ, तो तेरा साझा!"

"मेरा साझा क्या है! मेरा काम तो बस पाथ-पाथकर हुराना है।"

"हरामज़ादी ! ससुरी ! ज़बान खींच लूँगा !"

"हाँ, और काहे लायक हो !"

अवतार पिल पड़ा। सुभागी के सिर और पीठ पर घूँसे, लात और थप्पडो की वर्षा होने लगी। सुभागी चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगी। मारते-मारते जब अवतार थक गया और क्रोध का आवेग कुछ शान्त हुआ तो घर के बाहर निकल गया।

पीडा से तडपती हुई सुभागी खाट पर जाकर पड रही। रोने-चिल्लाने की आवाज़ सुनकर चार-पाँच पडोसिनें आकर जमा हो गईं और सुभागी को समझाने-बुझाने लगीं। किन्तु उग्र मनोवेदना सान्त्वना से शान्त नहीं होती, और बढ जाती है। सुभागी ज़ोर से फफक-फफक-कर रोने लगी।

अवतार किसानी करता था। दस बीघे मौरूसी ज़मीन थी, उसी को जोत-बोकर उसका काम चलता था। उसकी गृहस्थी बडी न थी। केवल दो प्राणी थे, वह और उसकी स्त्री। इसलिए उसे विशेष कष्ट न था। लेकिन सब दिन बराबर नहीं जाते। माघ का महीना था। खेतो में फसिल लहलहा रही थी। सरसों फूलने लगी थी, चने और मटर की फलियों में दाने आने लगे थे, गेहूँ और जौ की बालें भर चुकी थीं। खेतो को देख देखकर किसान फूले न समाते थे। एक दिन एकाएक वायु ज़ोर से चलने लगी, बादल उमॅडने लगे। देखते-देखते सारा आकाश मेघाच्छादित हो गया। पानी की एक तेज़ बौछार आई, फिर ओले गिरने लगे। सप्ताह भर पानी न निकला। लहलहाती हुई फ़सिल नष्ट हो गई। किसानों ने सिर पीट लिये। प्राकृतिक प्रकोप के सामने मनुष्य की कब चलती है? जहाँ एक बीघे में आठ-दस मन पैदा हो जाता था वहाँ एक मन भी न हुआ। लेकिन अनाज चाहे पैदा हो या न हो, ज़मींदारों को लगान तो देना ही पड़ता है। ऐसे सकट में किसान का एकमात्र आश्रय है साहूकार का घर। अपने अन्य भाइयों की भाँति अवतार ने भी क़र्ज़ लेकर लगान अदा किया। खाने

के लिए भी अनाज उधार ले आया। सुभागी ज़मींदार के घर मे कूट-पीसकर थोडा-बहुत कमा लाती थी। इस तरह उन लोगो का काम चल रहा था। चिन्ताग्रस्त मनुष्य चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए सरल साधन खोजता है। अवतार के सामने दो साधन थे—एक मेहनत-मज़दूरी, दूसरा मादक द्रव्यो का सेवन। कठिन तो दोनो थे, पर सयोगवश दूसरा सरल सिद्ध हुआ। गाँव के उस मन्दिर में एक बाबाजी आ डटे। साधु की धूनी पर गाँजा और चरस की चिलमे हर समय चलती रहतीं। अवतार भी बाबाजी की सेवा मे जा उपस्थित हुआ।

पड़ोसिने अपने-अपने घर चली गईं। सुभागी बिना खाये-पिये पड रही। लेकिन नींद न आई। करवटे बदलते-बदलते रात बीत गई। अवतार घर न लौटा। दिन चढ़ आया, पर वह न आया। तब सुभागी को शंका हुई। घर मे ताला लगाकर वह उसे ढूँढ़ने निकली। सारा गाँव छान डाला लेकिन वह न मिला। आस-पास के ग्रामो मे भी उसका पता न लगा। दूसरा दिन भी इसी तरह बीत गया। क्रमशः पूरा साल निकल गया, लेकिन वह वापस न आया।

उसके बाद—

दो वर्ष और बीत गये किन्तु उसकी कोई ख़बर न मिली। इस बीच मे कई स्वजातीय किसानो ने उसके साथ सगाई करने का प्रस्ताव किया, किन्तु वह सहमत न हुई। अपने परिश्रम से खेती करके वह अपना गुज़ारा करती थी और इसी तरह जीवन के शेष दिन काट देना चाहती थी। अपने पति की स्मृति की वह पुजारिन थी। किसी दूसरे की फिर वह कैसे हो सकती थी?

सुभागी को अब जीवित रहने की इच्छा न थी। निरवलम्ब होकर कौन स्त्री जीना चाहती है? उसके उदासीन मन में अब केवल एक लालसा थी—एक बार उनसे भेंट हो जाती। वह उसे दिखा देती कि वह वैसी नहीं है जैसी वह उसे समझता था। इसी लालसा को लेकर

वह नित्य उस देवालय में पूजा करने जाती थी। उसके निरीह जीवन की सारी मोह-माया इसी लालसा मे केन्द्रित थी।

(३)

दीपावली की रात थी। उस गाँव में भी जहाँ नित्य साँझ होते ही अन्धकार छा जाता था, आज प्रकाश की वर्षा हो रही थी। घर-घर में लक्ष्मी की पूजा हो रही थी। कहीं-कहीं लोग जुआ खेल रहे थे, लेकिन रुपयों और गिन्नियों से नहीं, कौडियो और पैसो से। गगन-मण्डल के असंख्य दीपको मे आज नित्य से अधिक ज्योति थी।

अर्द्ध-रात्रि का समय था। लक्ष्मी की पूजा समाप्त करके, डोलची लेकर सुभागी घर से बाहर निकली। बाहर ताला लगाकर वह मन्दिर की ओर चली।

उद्यान में निःस्तब्धता का साम्राज्य था, वायु भी निःस्तब्ध थी। मन्दिर के द्वार पर एक दीपक टिमटिमा रहा था। अमावस्या का वह निविड अन्धकार दीपक के क्षीण प्रकाश से और भी प्रगाढ हो गया था। सहसा एक ओर एक उल्लू चीख़ उठा। बडी कर्कश थी वह चीख। सुभागी का हृदय ज़ोर से धडकने लगा। सँभाल-सँभालकर पैर रखती हुई वह मन्दिर के समीप गई। मन्दिर में जाकर डोलची से दिये निकाल-निकालकर वह रोशनी करने लगी। देखते-देखते मन्दिर के भीतर-बाहर प्रकाश छा गया।

तब वह पूजा करने बैठी। जल, पुष्प और नैवेद्य चढाकर, आँखे बन्द करके, वह ध्यान मे मग्न हो गई। बडी देर तक वह ध्यानस्थ बैठी रही। जब उसने आँखें खोलीं तो उसके आश्चर्य की सीमा न थी। गेरुये वस्त्र धारण किये, एक अधेड साधु मन्दिर के द्वार पर खड़ा हुआ उसकी ओर देख रहा था। आँखे फाडकर वह उसकी ओर देखने लगी। साधु कौन है? अनवरत उपासना की दिव्य दृष्टि बाह्य आकार को भेदकर साधु के वास्तविक रूप का दर्शन पा गई। वह तो......वही...! चीख़ मारकर, झपटकर सुभागी उसकी ओर चली।

सहमकर साधु शीघ्रता से मन्दिर के नीचे उतरा और अन्धकार में लुप्त हो गया।

चौखट पर ठोकर खाकर सुभागी गिरी और बेहोश हो गई। गिरने की वह आर्त्त ध्वनि निःस्तब्ध वायु में गूँजकर साधु के समीप जाकर करुण क्रन्दन करने लगी। वह आगे न बढ सका। विवश होकर लौटकर उसे फिर मन्दिर मे जाना पडा।

साधु सन्नाटे मे आ गया। पत्थर के फर्श पर सुभागी अस्त-व्यस्त पड़ी हुई थी। उसके सिर से रक्त बह रहा था। झुककर साधु ने कलाई पर हाथ रक्खा। नाडी का कहीं पता न था। हृदय की गति बन्द हो चुकी थी। शरीर ठण्डा होने लगा था। किन्तु मुखमण्डल पर विचित्र शान्ति थी, अधखुले होठो की कोरो मे स्वर्गीय मुस्कान नृत्य कर रही थी। भौतिक विभूतियाँ क्रमशः निर्जीव हो रही थीं; किन्तु कारागारवासिनी वह आत्मा आज यहाँ इस तरह बन्धन-मुक्त होकर हँस रही थी। उस स्वर्गीय हास की छाया मुखमण्डल पर व्यक्त थी।

सुभागी के शव को अपनी सबल भुजाओं में कसकर साधु रोने लगा। उसकी आँखो से अश्रु-धाराये बह-बहकर शव के कपोलो पर बहने लगीं। माया के उस मूक क्रन्दन में केवल वेदना ही न थी, सुख भी था। जिस बन्धन से, इस तरह इतने दिनो से, वह भाग रहा था उसने आज अपनी ओर खींचकर, अपने पाश मे एक बार कसकर उसे यो अनायास ही मुक्त कर दिया। इस मुक्ति में क्या सुख न था!

चित् उसी भयानकता से भयभीत होकर चुप चाप आँखे बन्द किये पड़ा था। पर श्रद्धा! वह जैसे कर में विजय-केतु लिये हुये, उसी भयानकता की छाती पर पैर रखती हुई, आगे बढ़ी जा रही थी। कहाँ जा रही थी, यह तो कदाचित् श्रद्धा को भी ज्ञात न था। ऐसा ज्ञात होता था, मानों वह संसार की दृष्टि से बच कर अंधकार के उस महासागर में अपने को विलीन कर देना चाहती हो।

सहसा श्रद्धा के पैर रुक गये। उसने देखा, आगे सरिता है, जो चुप चाप वही जा रही है। श्रद्धा सरिता की ओर देखने लगी। श्रद्धा सरिता की ओर देख कर अभी मन ही मन सोच ही रही थी, कि पीछे से कोई बोल उठा—श्रद्धा!

उसने आगे बढ कर श्रद्धा को पकड़ लिया। श्रद्धा आश्चर्य-चकित होकर बोल उठी—'आप!'

हाँ श्रद्धा मैं! तुम्हारा अपराधी जयन्त!—वह व्यक्ति बोल उठा-मुझे क्षमा करो!

पाठक, वह जयन्त था। प्रमीला और जयन्त में जब रात मे बात चीत हो रही थी; तब श्रद्धा द्वार पर खड़ी-खड़ी उसे सुन रही थी। श्रद्धा का हृदय आन्दोलित हो उठा। वह दिन भर अपने कमरे में पड़ी-पड़ी अपनी स्थिति पर विचार करती रही। उसने अपने साथ ही जयन्त की स्थिति पर भी विचार किया। अपनी और जयन्त की स्थिति पर विचार करने पर उसे ज्ञात हुआ, कि उससे कहीं अधिक जयन्त की स्थिति संकटापन्न है। श्रद्धा के कर्तव्य ने उसे फिर एक बार ललकारा, और श्रद्धा ने कर्त्तव्य के आह्वान पर अपने जीवन की ही बाजी लगा दी। उसने जयन्त के नाम एक पत्र लिख कर अपनी चार-पाई पर छोड़ दिया और जब रात्रि हुई, तब अंधकार में चुप-चाप घर से निकल पड़ी! किस उद्देश्य से; यह तो श्रद्धा को भी ज्ञात नहीं था।

श्रद्धा जब घर से निकली, तब बारह बज रहे थे। सारा संसार

निद्रा में मग्न था; पर जयन्त की आँखों में उस समय भी नींद न थी। प्रमीला की बात ने उसे अधिक चिन्ता में डाल दिया था। वह आज दिन भर अधिक उदास रहा। वह दिन में दो-तीन बार श्रद्धा के कमरे की तरफ भी गया। क्योंकि उसने यह जान लिया था, कि उस बातचीत का उसके हृदय पर क्या प्रभाव पड़ा? कभी-कभी उसका हृदय आशंकित भी हो उठता था और वह विचारों के वेग में बहुत कुछ सोच जाता था। रात्रि की उस स्तब्धता में भी जयन्त श्रद्धा और प्रमीला के ही संबंध में सोच रहा था। कभी श्रद्धा उसकी आँखों के सामने आती, तो कभी प्रमीला। प्रमीला जब उसकी आँखों के सामने आती तो उसे ऐसा ज्ञात होता, मानो उसकी आँखों से कोप की ज्वाला निकल रही है, चेहरा तमतमाया हुआ है, और वाणी से कर्कशता फूट रही है, किन्तु जब श्रद्धा उसकी आँखों के सामने आती तो दुखी, उदास और करुणा की प्रतिमूर्ति सी। जयन्त का हृदय भीतर ही भीतर श्रद्धा की ओर खिचा जा रहा था और वह यह सोच रहा था, "कभी नहीं, वह श्रद्धा से कभी अलग न होगा। श्रद्धा देवी है, स्वर्ग की प्रतिमा है।"

जयन्त अभी सोच ही रहा था, कि धीरे से मुख्य द्वार की किवाड़ खटकी। जयन्त ने खिड़की से झाँक कर देखा। उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मनों उसके घरके भीतर से कोई छाया-मूर्ति निकल कर अंधकार में समाविष्ट हो गई हो। जयन्त का हृदय आशंका से विकम्पित हो उठा, और हवा के झोंके की भाँति कमरे से निकल कर उस छाया-मूर्तिके पीछे-पीछे लग गया। कुछ दूर जाने पर जयन्त को निश्चय हो गया, कि वह श्रद्धा है। श्रद्धा जब सरिता के तट पर पहुँच कर खड़ी हो गई; तब जयन्त ने पीछे से पहुँच कर उसे पकड़ लिया। जयन्त की बात सुनकर श्रद्धा बोल उठी—मुझे छोड़ दीजिये नाथ; मेरा कर्त्तव्य मुझे बुला रहा है।

और मेरा भी कर्त्तव्य मुझे विवश कर रहा है श्रद्धा!—जयन्त बोल उठा—मैं अब तुझे कदापि छोड़ नहीं सकता। मनुष्य की आँखों की चेतना स्वार्थ से नष्ट हो जाती है श्रद्धा! श्रद्धा, मुझे क्षमा कर दो।

और जयन्त श्रद्धा के सामने झुक गया। पर जयन्त के झुकने के पूर्व ही श्रद्धा उसके चरणों पर थी। जयन्त श्रद्धा को अपनी गोद में लेकर प्यार से उसका सिर सहलाने लगा। जयन्त का वह प्यार!

तारे और भी अधिक जोर से हँस पड़े, और एक ऐसी ज्योति फूट आई; कि अंधकार भी उसकी चमक से आलोकित हो उठा; और आलोकित हो उठा श्रद्धा का वह भाग्य, जिसके कारण वह अब तक उपेक्षित थी।

× × ×

मरुभूमि में कमल का पुष्प! प्रमीला बोलती तो कुछ न, पर जब उसे देखती, तो उसके सौन्दर्य से अपने आप ही उसका मस्तक झुक जाता और अनन्दी? वह तो मधुकर की भाँति उसपर मँड़रा-मँड़रा कर श्रद्धा के गीत गाने लगती! जयन्त यह सब कुछ देखता, पर न तो प्रसन्न होता, और न उदास! वह केवल इतना ही सोच कर रह जाता, "संसार स्वार्थी है, महा स्वार्थी!"

नई साड़ी

सन्ध्या के पाँच बज रहे थे। अनिल जब ए० जी० आफिस से अपने घर की ओर चला, तब उसकी जेब में सौ रुपये के नोट थे। अनिल को उस दिन उसका वह वेतन मिला था, जिसकी उसे महीना आरंभ होते ही उत्सुकता पूर्ण प्रतीक्षा थी। अनिल आफिस के उन बाबुओं मे से था, जो काम तो कम करते है, पर जिनकी दृष्टि मास प्रारंभ होते ही वेतन के स्वर्णिम शिखर पर लग जाती है। पर न जाने क्यों, अनिल को जिस दिन वेतन मिलता, वह अधिक उदास हो जाता, और न जाने कौन सी चिन्ता उसके मनके भीतर बैठकर अपना मन्द मन्द घुंघरू बजाया करती।

उस दिन भी अनिल अधिक उदास था, और न जाने क्या मन ही मन सोच रहा था। वह पैदल ही अपने घर की ओर जा रहा था। गर्मी की सन्ध्या थी। यद्यपि सूर्य की किरणों की गर्मी उतर गई थी, पर हवा सूर्य की किरणों की प्रचंडता पर अब भी इठला रही थी और वह रह-रह कर जब शरीर में धक्के मारती थी, तो शरीर के लोम-लोम तक, काँपकर उसके सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हो जाते थे। अनिल के शरीर में जब यह हवा लगती थी, तो उसे ऐसा ज्ञात होता था, मानों उसके शरीर के लोम ही नही, हड्डियाँ तक काँपी जा रही है। अनिल के शरीर में हड्डियाँ ही रह भी गई थीं। रहा होगा कभी उन हड्डियो पर मांस, पर अब तो ऐसा लगता था. मानों भीतर ही भीतर हड्डियों के ऊपर का मांस किसी ने नोच लिया हो और अव उसके ऊपर के खोल के भीतर हड्डियों का पंजर ही अव शेष रह गया हो। जान पड़ता है, उन हड्डियों में ही अनिल के प्राण फँसकर कही उलझे हुये थे। नही तो, देखनेवाले साफ-साफ कहते, कि न जाने यह अनिल कैसे चलता, फिरता और अपना काम करता है।

रूखी-सूखी अनिल की आकृति, और नेत्रोंके नीचे गहरी श्यामता ! देखने से ही ऐसा लगता, मानों उसके भीतर का रस किसी ने निचोड़ लिया हो। दफ्तर के दूसरे बाबू जब अनिल के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हुये उसे यह सलाह देते, कि वह किसी अच्छे डाक्टर से मिले, या किसी देशी वैद्य से अपनी चिकित्सा कराये, तब अनिल उत्तर तो कुछ न देता, किन्तु उसके भीतर से दीर्घ निश्वास-सी निकल पड़ती। दफ्तर में, अपने वेतन को ही अधिक महत्त्व देनेवाले बाबू भी अनिल की दीर्घ निश्वासों को देखते, किन्तु वे कदाचित् ही यह अनुभव करते, कि अनिल के भीतर वेदना का कोई एक ऐसा ज्वार उफन रहा है, जिसकी दवा किसी डाक्टर और वैद्य के पास नहीं !

अनिल की वह वेदना ! उसकी हड्डियाँ भीतर ही भीतर उसकी आग से जली जा रही थी ! घर या बाहर, कहीं भी उसे सुख न मिलता। ठंढी बयार भी उसे आग की ही भाँति ज्ञात होती और प्रमोद की फुहियाँ भी उसके हृदय पर इस प्रकार गिरती, मानों कोई धीरे-धीरे उसके हृदय पर विष का लेप कर रहा हो। अनिल भरसक चेष्टा भी करता, कि उसके हृदय की वेदना उसका साथ छोड़ दे, पर छोड़ने को कौन कहे, वह तो अपने जीवाणुओं की संख्या इस प्रकार अनिल के हृदय में बढ़ाती जा रही थी, जिस प्रकार संक्रामक रोगों के कीटाणु शरीर के सम में जन्म लेने पर फिर शीघ्र ही अपनी संख्या बढा लेते हैं।

अनिल की वेदना ! वह अपनी वेदना के ही संबंध में सोचता हुआ शनैः शनैः सड़क की पटरी से आगे बढ़ रहा था। अपनी वेदना के संबंध में सोचता हुआ अनिल कभी अपने जेब में भी हाथ डाल देता, और जब उसका हाथ जेब में नोटों पर पड़ता, तब जैसे उसके हृदय की उदासीनता श्रावण के बादलों की भाँति और भी अधिक उमड़ पड़ती और उसकी मन्द प्रगति और भी अधिक मन्द पड़ जाती।

जैसे उसकी प्रगति–पक्षी के पंख ही झड़ जाते और वह निरुपाय होकर गिर पड़ता, और आँखों में विवशता भरकर आकाश की ओर देखने लगता। पर अनिल को अपने घर तो जाना ही था! अतः यद्यपि चिन्ता रह-रह कर उसके पैरों को अपनी जंजीरों से बाँध रही थी, पर फिर भी अनिल के पग एक के पश्चात् एक उठते ही जा रहे थे।

जैसे धीरे-धीरे अनिल के पग उठ रहे थे, वैसे ही धीरे-धीरे अनिल की चिन्ता के चित्र भी एक के पश्चात् एक उसके हृदय पटल पर आ रहे थे। चिन्ता का जब कोई एक चित्र उसके हृदय-पटल पर अंकित होता, तब वह उससे उसी प्रकार चिपक जाता, जिस प्रकार उसका कोई एक पग पृथ्वी पर पड़कर उससे चिपक जाता था। अनिल की वह चिन्ता! उसके जेबमें कुल सौ रुपये के नोट थे। बीस रुपये वह मकान का भाड़ा देगा, पचास रुपये उसे उन साड़ियों के देने हैं, जिन्हें वह गत मास में अपनी पत्नी के लिये ले गया था। घर पहुँचते ही दूधवाला आयेगा और वह आज रुपया लिये बिना न टलेगा और वह आगा! उसे तो देखते ही अनिल के प्राण तक काँप जाते हैं। किसी प्रकार वह दूधवाले को मना लेगा, महरिनि को कल्ह पर टाल देगा, और बजाज को भी, हाथ-पैर जोड़कर मना लेगा, पर वह आगा तो किसी प्रकार टस से मस होनेवाला नहीं। अनिल चाहे जितनी ही अधिक गाढी बूँद उसके हृदय पर गिराये, पर वह उसपर एक क्षण के लिये भी न रुकेगी। वह अवश्य अनिल के पहुँचने के पूर्व ही उसके द्वार पर पहुँच गया होगा और गृद्ध की भाँति लोलुप तथा रक्तमयी दृष्टि से उसका पथ देखता होगा। अनिल को जहाँ उसने देखा नहीं, कि झट उसके मुखसे निकल पड़ेगा, लाओ रुप्पी!

यदि उसके कथन के साथ ही अनिल का हाथ जेब में न चला गया और उसने पचास रुपये निकालकर उसके हाथ पर न रख दिये तो, फिर वह सारी पृथ्वी-सी खोद कर फेंक देगा। इधर यदि अनिल पचास रुपये उसे दे देगा, तो फिर वह अपना अन्यान्य मासिक व्यय

कैसे चलायेगा? चिन्ता की लहरियों में डूबता उतराता हुआ चला जा रहा था। अब वह सड़कके उस भागको, जिसके स्तब्ध जीवनमें कभी-कभी मोटरोंका रव ध्वनित हो उठता है, पार कर बाजार में पहुँच गया था। बाजार में पहुँचने पर अब अनिल के चिन्ता-विचार पूर्ववत् स्थिर न होने पा रहे थे। अनिल का हृदय था तो अब भी चिन्ता की लहरों से परिपूर्ण, पर अब एक्के, ताँगों और मोटरों के रव से उसकी चिन्ता साधना रह-रहकर टूटी-सी जा रही थी, और इसीलिये उसे ऐसा ज्ञात हो रहा था, मानों उसके हृदय के भीतर चिन्ता चिकोटियाँ काट रही है।

नैश और पीड़ा की गोद में प्रसुप्त व्यक्ति का जीवनाधार चिन्ता-कल्पना ही हुआ करती है। मनुष्य जब किसी वेदना से विह्वल होकर परिश्रान्त हो उठता है, तब वह चिन्ता के ही अंक में बैठकर कल्पना के तार जोड़ता है। यह सच है, कि चिन्ता के अंक में बैठकर कल्पना के तार जोड़ने से उसकी वेदना में कुछ न्यूनता नहीं आ जाती, किन्तु यह सच है, कि उसके वेदना-विह्वल हृदय को कुछ संतोष अवश्य प्राप्त होता है और जब उसका यह संतोष भी उससे अलग हो जाता है, तब उसके हृदय के भीतर ही भीतर आकुलता का ज्वार-सा उफन पड़ता है और उस उफान से वह अपने भीतर अत्यधिक विकलता का अनुभव करने लगता है। अनिल को भी अपने भीतर यही विकलता ज्ञात हो रही थी। कुछ क्षण तक तो अनिल ने अपने भीतर की इस विकलता से संघर्ष किया, पर जब अन्तर्जगत मे उसकी उमस अधिक बढ गई, तब अनिल उससे अपना पिण्ड छुड़ाने के लिये अपने पैरो मे और भी अधिक सक्रियता लाने लगा। यदि अनिल का वश चलता तो वह शीघ्र ही कोलाहल से भरे हुये उस संसार से उड़ जाता और निर्जन के अंक में गिरकर पुनः अपनी चिन्ता के तार ठीक करने लगता, पर शोक! अनिल के पैर वायुयान न थे। अनिल तीव्र-गति से पटरी के पथ से आगे बढ रहा था।

सहसा कोई पुकार उठा—अनिल बाबू !

अनिल रुककर बाईं ओर आकर्षित हो उठा। कपड़े का एक दूकानदार था, जो दूकान के एक ओर बैठकर सड़क की ओर देख रहा था। अनिल ने उसकी ओर देखा। अनिल को ऐसा लगा, जैसे उसका हृदय वीणा के तारों की भाँति झनझनाकर बन्द हो जाना चाहता हो। अनिल के हाथ अपने आप उठ गये—"नमस्ते, बाबू राम गोपाल !"

और अनिल दूकान में जाकर एक ओर बैठ गया। दूकानदार ने अनिल की ओर देखा। अनिल का हाथ अपने आप जेब के भीतर चला गया और जब बाहर निकला तो उसमें सौ रुपये का नोट था। अनिल की साँस तीव्र गति से चल रही थी और उसके मस्तक पर स्वेद कण मोतियों की भाँति झिलमिला रहे थे। अनिल अपनी उसी अवस्था में दूकानदार की ओर देखकर पूछ बैठा—आपके कितने रुपये चाहिये रामगोपालजी !

पचास रुपये !—रामगोपाल ने उत्तर दिया।

अनिल के हाथ काँप रहे थे। हाथ की उँगलियों की भाँति ही अनिल की चेतना भी काँप रही थी। अनिल ने अपनी स्थिति का अनुभव किया, पर उसने दृढ़ता पूर्वक उसपर अपना अधिकार स्थापित करके दस-दस रुपये के पाँच नोट दूकानदार के हवाले कर दिये। पाँच नोट अब भी बिजली के पंखे की हवा में अनिल के हाथ में फड़-फड़ा रहे थे। यद्यपि अनिल उन्हें अपनी उँगुलियों से पकड़े हुये था, पर ऐसा लगता था, मानो वे उसकी उँगुलियों के घेरे को तोड़कर बाहर निकल जाने के लिये शक्ति भर चेष्टा कर रहे हों।

अनिल ने एकबार उन नोटों की ओर देखा और फिर, दूकान में इधर-उधर चारों ओर। रंग-रंग की सुन्दर साड़ियाँ टँगी हुई थीं और कुछ अलमारियों में भी रक्खी हुई थीं, जिनके सुन्दर किनारे आल-

मारियों के शीशे में अपनी बड़ी ही आकर्षक और लुभावनी छवि आँक रहे थे। उन साड़ियों को देखकर अनिल जैसे अधिक गंभीर-सा हो उठा। ऐसा लगा, जैसे उसे किसी बात का स्मरण हो आया हो और वह उसीके संबंध में विचार करने लगा हो! सचमुच अनिल को किसी एक बात का स्मरण हो आया था। आज प्रातःकाल, दस बजे जब अनिल खा-पीकर आफिस चलने के लिये तैयार हुआ था, तब उसकी स्त्री, चम्पा ने बड़ी ही दृढता के साथ उससे कहा था— याद है न! आज वेतन मिलेगा, आज मेरी साड़ी अवश्य आ जानी चाहिये, अनिल ने उसकी बात का कुछ उत्तर तो न दिया था, पर उसने उसकी ओर एक विवशता भरी दृष्टि से देखा अवश्य था। प्रातःकाल की वही विवशता इस सन्ध्या में भी अनिल की आँखों में नाच रही थी। अनिल को जब चम्पा और उसकी साड़ी का स्मरण हुआ, तब अनिल को जैसे उसके भीतर की सारी चिन्ता विस्मृत हो गई और फिर विस्मृत क्यों न हो जाय? यही तो वह उद्गम था, जहाँ से उसकी चिन्ता के निर्झर उद्भूत होकर उसके हृदय-स्थल को अभिसिंचित किया करते थे।

प्रति मास एक साड़ी तो चम्पा के लिये साधारण सी बात थी। किसी-किसी महीने में जब चम्पा के हाथ में रुपये होते तो वह चार-चार तक साड़ियाँ खरीद लिया करती थी। चम्पा उन स्त्रियों में थी, जो अपने प्रसाधन की आग में अपना सर्वस्व झोंकने के लिये सदैव उद्यत रहती हैं। चम्पा देखती थी अनिल के उस शरीर को, जिसमें केवल अस्थि-पञ्जर अवशेष रह गया था, और देखती थी उसकी उन साँसों को, जो टूटने के लिये भीतर ही भीतर समाकुल हो रही थीं, पर चम्पा ने कभी अपनी सहानुभूति का कोमल हाथ अनिल की छाती पर न रक्खा। चम्पा की दृष्टि में पति का काम केवल यह था, कि वह उसकी अभिसार की वेदिका पर, यदि आवश्यकता पड़े तो, अपने

पर चम्पा को कुपित या असंतुष्ट करके घर को सराय न बनाता! पर चम्पा, कदाचित् ही कभी अनिल की इस हृदय-विशालता का अनुभव कर पाती हो। यही तो अनिल को बहुत बड़ा दुख था, जिसकी आग में वह भीतर ही भीतर जला जा रहा था। अनिल के इस दुख की महौषधि क्या संसार मे कहीं किसी के पास मिल सकती है!

बजाज की दूकान में टॅगी हुई साड़ियों को देख कर जब अनिल को चम्पा की साड़ी का स्मरण हो आया, तब उसकी आँखों के सामने उसके संपूर्ण जीवन का एक चित्र सा घूम गया। उसने थोड़े ही क्षणों में चम्पा को देखा, और देखा चम्पा के उस स्वरूप को, जो साड़ी न मिलने के कारण प्रलय की भाँति कुपित हो उठती है। अनिल का ध्यान अपने गृह जीवन पर भी गया, और उसने देखा, कि साड़ी न मिलने के कारण वह सराय-सा बन गया है, और अनिल उसमें वेदना से आहत होकर छट पटा रहा है! अनिल के मुख से एक दीर्घ निश्वास निकली, और वह बिजली-विजन की हवा में विलीन हो गई। अनिल कुछ देर तक मन ही मन सोचता रहा, फिर बोल उठा—राम गोपालजी कोई साड़ी दीजियेगा!

अनिल के हाथ मे अब भी पचास रुपये के नोट फड़फड़ा रहे थे रामगोपाल ने एक बार उन नोटों की ओर देखा! उन नोटो को एक बार देखने पर—या रामगोपाल के मन में यह आया, कि वह कह दे, क्यों नही? पर वह कुछ सोच कर रुक गया। कौन जाने अनिल साड़ी का दाम नकद, न दे! सौ रुपये तो उसे वेतन ही मिलता है, और पचास रुपये उसने उसमें से पिछले दे दिये। अब आज की साड़ी का मूल्य नकद कहाँ से देगा! ये पचास रुपये ही बड़ी कठिनाई से निकल पाये है! फिर-फिर! रामगोपाल मन ही मन सोच कर बोल उठा-साड़ी कहाँ से दे अनिल बाबू! आप जानते ही है, इस

कन्ट्रोल के युग में गिनी गिनाई साड़ियाँ मिलती हैं और वे कार्डवालों के लिये भी पर्याप्त नहीं होतीं।

अनिल ने रामगोपाल की ओर देखा। रामगोपाल ने भरसक प्रयत्न तो किया, कि उसके नेत्रों में जो सन्देह अनिल के प्रति नृत्य कर रहा है, उसे अनिल न देखे, पर मनुष्य के मन की भाँति आँखें उतनी कपटी नहीं होतीं। अनिल ने जब रामगोपाल की ओर दृष्टिपात किया तो रामगोपाल के मन ने तो भरसक छिपाया, पर उसके नेत्रों ने अनिल के सम्मुख पूरा का पूरा पृष्ठ खोल दिया। अनिल तुरन्त बोल उठा—दाम नकद दूँगा बाबू रामगोपाल!

अनिल ने रामगोपाल के ऊपर चोट तो की, पर रामगोपाल ऐसा खिलाड़ी नहीं, जिसके मोहरों को सरलता पूर्वक मात की जा सकती हो। वह भी तुरंत बोल उठा—आप भी कैसी बात करते हैं अनिल बाबू! क्या आप कभी बिना दाम दिये हुये साड़ियाँ नहीं ले गये हैं? सच बात यह है, कि आज कल्ह हम लोगों की रोटी तलवार के धार पर की है। देना तो चाहते है आपको साड़ी, पर दें कहाँ से! गिनी गिनायी साडियाँ हैं। यदि कहीं पकड़ में आ गये, तो लेने के देने पड़ जायँगे।

यद्यपि रामगोपाल की बात में यथार्थता थी, पर अनिल के हृदय पर उसकी इस यथार्थता का कुछ भी प्रभाव न पड़ा और प्रभाव न पड़ने के बहुत से साधार गुप्त कारण भी थे। अनिल ने तो यही समझा और निश्चय पूर्वक समझा, कि रामगोपाल ने जो साड़ी देने से अस्वीकार किया, उसका यही कारण है, कि उसे उससे रुपया पाने में अधिक सन्देह है। अनिल ने एकबार पुनः रामगोपाल की ओर देखा, पर रामगोपाल ने इस बार अपनी दृष्टि दूसरी ओर फेर ली। अनिल कुछ देर तक चुपचाप बैठा रहा और फिर सर्वस्व-हारा की भाँति दूकान से बाहर निकलकर पुनः सड़क के किनारे किनारे चलने लगा। अनिल की आँखों के सामने पुनः चक्र की भाँति वही

चित्र घूमने लगा। चम्पा! घर पहुँचते ही चम्पा साड़ी के लिये पूछ बैठेगी और यदि उसे साड़ी न मिली तो फिर निश्चय है, घर सराय बन जायगा। उस सराय में वह अनिल! अनिल उसके स्मृति-मात्र से कॉप उठा। वह कुछ रुका और उसने एकबार इधर-उधर देखा! वह कपड़े के बाजार के बीच में था। दोनों ही ओर कपड़े की दूकानें थीं, जिनमें रंग-विरंगी साड़ियाँ टँगी हुई थीं। दूकानदारों में कुछ ऐसे भी थे, जो अनिल के परिचित भी थे। यद्यपि अनिल ने कभी उनके साथ लेन-देन नहीं किया था, पर स्थिति की विवशता! अनिल साहस करके एक-एक की दूकान में गया। वह ऐसी भी दूकानों में गया, जिनके दूकानदार अनिलसे पूर्णतया अपरिचित थे। पर जब परिचितों ने ही असमर्थता प्रगट करते हुये अस्वीकार कर दिया तो अपरिचितोंबात क्या! अनिल के पैर पृथ्वी से जैसे जकड़ से उठे। वह जब निराश होकर घर की ओर मुड़ा, तब उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानों उसके हृदय पर निराशा का तुषार सा बरस रहा है। रह-रह कर चम्पा और उसकी आकृति अनिल की ऑखों के सामने आ रही थी, और रह-रहकर वह चित्र उसके सामने नाचा जा रहा था, जिसमें उसका घर सराय बन गया था और वह आश्रय-हीन पक्षी की भॉति उस सराय में इधर-उधर चोंचें मार रहा था।

विपत्ति-ग्रस्त अनिल! कॉपते हुये हृदय से घर की ओर शनैः शनैः बढ रहा था! उस समय ठोकर जनित मूर्च्छना को वह कुसुम समझता था, और मृत्यु को जीवन का निमंत्रण, पर विपत्ति ग्रस्त मनुष्यों के पास न तो मूर्च्छना ही आती है, और न मृत्यु ही! अनिल रह-रह कर उन्हें निमंत्रण दे रहाथा, पर वे दोनों ही उससे भागी जा रही थीं, दूर-बहुत दूर!! कदाचित् मानव जीवन की यथार्थता को प्रमाणित करने के लिये! काश, अनिल के जीवन की झॉकी से मानव-जीवन की यथार्थता हम देख सकते!

[२]

रात्रि के आठ बज रहे थे। नगर मे खुली हुई सड़कों के किनारे बिजली की बत्तियाँ जगमगा रही थी। पर गलियों में अब भी अन्धकार ही था। कही-कही उस अन्धकार में खम्भों में लगे हुये मिट्टी के तेल के लैम्प अपने ही भाग्य पर क्रन्दन कर रहे थे। खुली हुई सड़कों और गलियो के उस प्रकाश को यदि कोई दार्शनिक देखता तो वह यही कहता, कि मानव की प्रकृति ही ऐसी होती है, कि वह भीतर प्रवेश न करके बाहर ही अधिक दौड़ता है।

अनिल की उस गली में भी जिसमे उसका मकान था, अन्धकार बरस रहा था, और उस अन्धकार से गली के समस्त मकान ऐसे ज्ञात हो रहे थे, मानों उन पर किसी ने कालिमा पोत दी हो। अनिल जब अपने घर के दरवाजे का किवाड़ ठेल कर भीतर गया, तो बाहर की ही भाँति घरमे भी उसे अन्धकार दिखाई पडा। अनिल ने कमरे मे जाकर अपना कपड़ा उतारा, और फिर वह आँगन में आकर खड़ा हो गया। चम्पा जो ऊपर थी, कुछ आहट पाकर बोल उठी—कौन?

मै हूँ! 'अनिल ने मन्द स्वर में उत्तर दिया'

साढ़े आठ बज रहे है! और अब आपको छुट्टी मिली है! चम्पा ने ऊपर से ही कहा!

अनिल ने जो अपना हाथ-पैर धोने में व्यस्त था, 'चम्पा की इस' बात का कुछ उत्तर न दिया। चम्पा कुछ देर तक उत्तर की प्रतीक्षा मे थी। पर जब उसे अनिल से कुछ उत्तर न मिला, तब वह अपने आप नीचे उतर आई, और पूछ बैठी, लाये मेरी साड़ी बाजार से!

चिन्ता की आग अनिल के हृदय को वैसे ही जला रही थी, ग्रीष्म की आतप्तता ने उसमें और भी अधिक योग दे दिया था। अनिल को ऐसा ज्ञात हो रहा था, जैसे उसके हृदय के भीतर ज्वाला-सी धधक

रही हो ! अनिल ने चम्पा की बात का कुछ उत्तर न दिया। वह आँगन में पड़ी हुई चारपाई पर लेट कर पंखा झलने लगा। चम्पा कुछ देर तक उत्तर की प्रतीक्षा करती रही, फिर कुछ तीव्र स्वर में बोल उठी—मैं पूछती हूँ, मेरी साड़ी लाये या नहीं।

अनिल को भली भाँति ज्ञात था, कि यदि वह चम्पा के हृदय के भीतर की चिनगारियों को विखेरता है तो फिर वे चिनगारियाँ उसके संपूर्ण जीवन को जला डालने में किसी प्रकार का संकोच न करेंगी। अनिल ने एक नहीं, कई बार उन चिनगारियों को देखा था, और देखा था उन्हें जीवन का तत्त्व जलाते हुये, पर फिर भी अनिल के हृदय में इस समय जो आकुलता नृत्य कर रही थी, उससे अधिक समाकुल हो कर अनिल बोल उठा-न पानी, और न जलपान ! बस, घर में पैर रखते ही साड़ी की रट लग गई।

अनिल के इस कथन से चम्पा के उस हृदय में, जो पति से अपनी समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति का अभ्यासी बन गया था, और जिसमें पति के प्रति भी कुछ कर्तव्य है या नहीं, लेशमात्र भी यह विचार न था, आग जल उठी। यदि चम्पा का हृदय कोई खुला हुआ मैदान होता तो अनिल को स्वयं धधकती हुई आग की लपटें दिखाई देतीं ! हृदय की आग न देखी अनिल ने, पर चम्पा की वाणी की आग ने तो अनिल के अन्तर्जगत तक को कँपा दिया। चम्पा तीव्र स्वर में बोल उठी—तो क्या मैं जलपान करने के लिये हाथ पकड़े हुये थी ! बाजार खुला था, और पास में रुपये भी थे। खालिये होते खूब पेट भर कर !

फिर तुम्हारा घर में क्या काम था !—अनिल बोल उठा।

हाँ, मै तो इसी लिये घर में हूँ, कि दासी की भाँति सेवा की आग में अपने को दिन रात जलाया करूँ !—चम्पा व्यंगपूर्ण स्वर में बोल उठी-हाय मेरे तो भाग्य फूट गये !

और बात समाप्त होने के साथ ही चम्पा की आँखों में आँसू छलक आये और वे इस प्रकार उसके कपोलस्थल से होकर नीचे ढुलकने लगे, मानों मुक्ताओं की लड़ियाँ बिखर कर एक-एक कर गिर रही हों! अनिल अन्धकार होने के कारण चम्पा के अश्रु-बूँदों को तो न देख सका, पर उसकी आर्द्र वाणी से शीघ्र ही वह यह समझ गया कि चम्पा के नेत्रों से प्रपात फूट पड़ा है। कह नहीं सकते, उस अश्रु-प्रपात से, या और किसी कारण से अनिल के उत्तप्त हृदय में कुछ शीतलता सी डोल गई, और वह सहानुभूति भरे स्वर में बोल उठा—आखिर तुम्हें भी तो कुछ समझना चाहिये। दिन भरके पश्चात् थका-माँदा आया हूँ। यदि एक गिलास ठण्डा जल भी न मिलेगा, तो आखिर मेरा हृदय क्या कहेगा? रही साड़ी की बात, तो तुम सच मानों, मै एक एक दूकान खोज कर आया हूँ। साड़ी की तो बात क्या बिना कार्ड के कोई एक गज कपड़ा भी देने को तैयार नही।

अनिल अपनी बात को समाप्त कर गम्भीर हो उठा। कदाचित् वह भीतर ही भीतर अपने जीवन की परिस्थितियों पर विचार करने लगा हो! चम्पा ने अनिल की पूरी बात बड़े ध्यान से सुनी। इसमें सन्देह नही, कि अनिल की बात का प्रारंभिक अंश सुन कर चम्पा के उष्ण हृदय के किसी कोने में कोमल वारि-धारा फूट उठी थी, पर जब चम्पा ने अनिल की बात का अन्तिम अंश सुना तो करुणा की स्निग्धता अपने स्थान पर ही सूख गई, और उसका हृदय पहले से भी अधिक उत्तप्त हो उठा। वह उसी उत्तप्तता में अपनी वाणी को ढालती हुई बोल उठी—तुम ऐसे ही हो, जो तुम्हें सबके यहाँ से कोरा उत्तर मिलता है। आज ही श्याम के पिता चार-चार साड़ियाँ श्याम की अम्माँ के लिये लाये है।

पुरुष अपनी पत्नी से चाहे सब कुछ सुन ले, पर जब उसकी पत्नी किसी पर पुरुष से तुलना करते हुए उसकी तुच्छता प्रमाणित करती है

तो सरल से सरल हृदय के पुरुष के अन्तर में भी स्वाभिमान की आग धधक उठती है, और वह अपने पुरुषत्व की रक्षा के लिये सब कुछ करने के लिये उद्यत हो उठता है। अनिल के हृदय पर यद्यपि सहानुभूति लोट चुकी थी, पर जब अनिल ने चम्पा के मुख से श्याम के पिता की बात सुनी, और यह देखा कि चम्पा श्याम के पिता की अपेक्षा उसे हेय प्रमाणित कर रही है, तो अनिल के हृदय में पहले से कही अधिक उष्णता की तीव्र आँधी दौड़ उठी, और वह उसी के आवेग में बोल उठा—फिर श्याम के पिता से ही क्यों नहीं कहा ? तुम तो यह भली भाँति जानती ही हो, कि मै संसार में सबसे गया-गुजरा हुआ व्यक्ति हूँ।

यद्यपि अनिल ने यह बात इस ढंग से कही थी कि उसके शब्द-शब्द में उसकी अन्तर्वेदना फूटी पड़ रही थी, पर चम्पा के विपरीत हृदय पर उसका विपरीत ही प्रभाव पड़ा। अनिल की बात का समाप्त होना था नहीं, कि चम्पा वाक्-युद्ध के लिये उद्यत हो उठी ! अनिल का हृदय भी ज्वालासे धधक रहा था। वह चम्पा की अग्नि के समान दहकती हुई बातों को अपनी उन बातों से शान्त करने का प्रयत्न करने लगा, जो चम्पा की बातों से कुछ कम उत्तप्त नहा थी ! थोडी देर तक तो वाक-युद्ध चला, पर जब भीतर के दानव ने अधिक उग्र रूप धारण किया तो अनिल ने अपना चप्पल उठाकर चम्पा पर फेक दिया। चम्पा ने भी अनिल का ही अनुगमन किया ! अनिल अब और आगे बढने के लिये उद्यत हुआ, और चम्पा उसका स्वागत करने के लिये, पर इसी समय एक समीपवर्ती छत से कोई सहानुभूति पूर्ण स्वर में बोल उठा—जाने भी दो भाभी !

सर्व प्रथम चम्पा की दृष्टि उस ओर गई, और उसके पश्चात् अनिल की ओर ! दोनों ने ही देखा, वह रमेश था, जो पार्श्ववर्ती मकान में रहता था। जब कभी चम्पा और अनिल में वाद-विवाद

होता था तो यह रमेश बीच-बचाव किया करता था। यद्यपि रमेश का उस समय कुछ बोलना अनिल को बिलकुल अच्छा न लगता था, पर अच्छा न लगने पर भी अनिल इस संबन्ध में प्रायः मौन ही रहता था, पर चम्पा अपने हृदय में इससे सर्वथा विपरीत भाव रखती थी। चम्पा और अनिल के वाद-विवाद मे जब रमेश पड़ता तो चम्पा को उससे एक तरह का प्रोत्साहन ही सा प्राप्त होता। यद्यपि चम्पा अपने इस प्रोत्साहन को कभी स्पष्ट रूप से प्रगट न होने देती, पर उसे अपने हृदय के भीतर इसकी अनुरक्ति तो होती ही। कभी-कभी अनिल की अनुपस्थिति में, आवश्यकता पड़ने पर चम्पा रमेश से बात भी करती थी। कह नही सकते, कि चम्पा के हृदय में इसकी कैसी प्रतिक्रिया होती थी, पर रमेश तो स्पष्टतः एक अपवित्र भावना को लेकर के ही चम्पा की ओर आकृष्ट होता था। चम्पा और अनिल में जब वाद-विवाद होता तो रमेश की उस भावना को और भी अधिक प्रोत्साहन मिलता। रमेश उस वाद-विवाद से इस परिमाण पर पहुँचता, कि चम्पा और अनिल में आये दिन जो संघर्ष छिड़ा करता है, उसका एक मात्र कारण यह है, कि इन दोनों में किसी एक का हृदय ऐसा अवश्य है, जिसमें एक के लिये विरक्ति और असंतोष की दृढ भावना है। रमेश, इसी को आधार बना कर चम्पा की ओर शनैः–शनैः बढ रहा था। कह नहीं सकते, कि चम्पा रमेशकी इस मनोवृत्ति को भी जानती थी, और जानने पर भी उसका हृदय उससे प्रोत्साहन की सुरा का पान करता था, पर अनिल रमेश की इस मनोवृति से अवश्य कुछ-कुछ परिचित था। यह बात नही, कि वह बड़ा सूक्ष्म दर्शी था, और उसकी ऑखे उसके मास-तन्तुओं को भेदती हुई उसके अन्तर्जगत में भी पहुँच गई थी। सच बात तो यह है, कि रमेश की जैसी प्रकृति थी, उसे देखते हुये किसी को भी यह बात रुचिकर प्रतीत नही हो सकती थी, कि वह उसकी पत्नी से वात करे; या जब

पति-पत्नी में किसी बात को लेकर विवाद उपस्थित हो जाय, तो वह उसकी पत्नी का पक्ष ग्रहण करे!

चम्पा और अनिल के पारस्परिक विवाद में जब रमेश बीच में ही बोल उठा और अनिल की दृष्टि उस पर गई तो अनिल के हृदय में एक आँधी-सी दौड़ उठी। और इस आँधी के दौड़ने का कारण था रमेश का कथन और उसके कथन का ढंग—"जाने भी दो भाभी!" अनिल के संपूर्ण अन्तर्जगत में यह बात गूँज कर रह गई; और फिर वह उसके हृदय-यंत्र को इस प्रकार रह-रह कर धक्का देने लगी, मानों उसे एक साथ ही झंकृत कर देना चाहती हो। अनिल कुछ देर तक मौन रहा; और भीतर ही भीतर अपने भीतर की आँधी में उड़ता रहा। फिर जब उसने कुछ कहने के लिये मुँह खोला; तब उसके कहने के पूर्व ही चम्पा रमेश की सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से बोल उठी—देखते हो न भैय्या! जरा मुँह में कालिख तो लगाओ!

हाँ देख रहे हैं भैय्या!—अनिल आवेश में बोल उठा—तुम मुँह में कालिख पोत चुकी हो, और उनका अब बाकी है। वे क्या मुँह में कालिख पोतेंगे!

बात बहुत साधारण सी थी, और अनिल उस समय जिस स्थिति में भ्रमर की भाँति परिभ्रमण कर रहा था, उसे देखते हुये तो और भी साधारण—सी थी, पर रमेश के उस हृदय पर, जो भीतर ही भीतर षड़यंत्र का एक जाल बुन रहा था; यह साधारण सी बात असाधारण ही बन कर पड़ी, और वह चम्पा को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से बोल उठा—आपको लज्जा आनी चाहिये अनिल बाबू! एक तो आप अबला पर अत्याचार कर रहे है ओर दूसरे हेकड़ी पर तुले हुये हैं। आपको जानना चाहिये, कि सभी लोग आपकी स्त्री की भाँति अबला नहीं हैं।

रमेश की यह बात अनिल के हृदय में जलती हुई आग को और भी अधिक भड़का देने के लिये पर्याप्त थी। बहुत संम्भव है, अनिल रमेश की बात का उत्तर उसी के स्वर में देता, और बहुत संभव है, कि अनिल और रमेशमें वाक्-युद्ध भी आरंभ हो जाता। रमेशकी बात का उत्तर देने के लिये अनिल के अधर फड़ फड़ाये भी, पर स्वर फूटने के पूर्व ही चम्पा तीव्र स्वर में बोल उठी--तुम ठीक कहते हो भैया! यह सबको अपने पैरों की जूतियाँ ही समझा करते है। कोई आकर मुँह में तमाचा लगाये, तो बुद्धि ठिकाने आ जायगी।

इस बात के कथन में चम्पा का चाहे जो भी भाव रहा हो, पर अनिल ने तो यही समझा, कि चम्पा रमेश को उसके मुँह में तमाचा मारने के लिये निमंत्रण दे रही है। अनिलने चम्पा को अपने हृदय में चाहे जो भी समझा हो, पर उसने यह कभी न समझा था; कि वह अन्य पुरुप को उसके मुँह पर तमाचे मारने के लिये निमंत्रित भी कर सकती है। आज जब उसने चम्पा का यह नवीन और अकल्पित स्वरूप देखा, तो उसका वह हृदय जो ज्वालामुखी की भाँति धधक रहा था, अपने समस्त वैभवों को लेकर भीतर ही भीतर बैठ गया। और फिर मुख पर निराशा की एक ऐसी काली बहार दौड़ उठी, जिसकी उपमा कदाचित् उस सर्वभस्मीभूत भवन से दी जा सकती है, जिसकी केवल काली-काली दीवाले आकाश की ओर मुँह करके चुप चाप खड़ी हो।

रमेश छत पर उद्यत खड़ा था, अनिल की बात का उत्तर देने के लिये, और आँगन में खड़ी थी चम्पा उस पर अग्नि की चिनगारियाँ बिखेरने के लिये, पर जब चम्पा ने तमाचे लगाने की बात कही, तो अनिल के अधर केवल फड़फड़ा कर रह गये। ऐसा लगा, मानों उसके कंठ को किसी ने आग्रस्त कर लिया हो। भीतर से शब्द उठे, किन्तु कंठ में ही गूँज कर रह गये। अनिल के हृदय पर तुषार की एक ऐसी आँधी डोल गई, जिससे कुछ क्षणों के लिये उसका सारा

अन्तर्जगत ही जकड़ सा उठा। अनिल मौन रूप में कुछ देरतक खड़ा-खड़ा सोचता रहा; फिर अपना कुरता पहन कर बाहर निकल गया।

चम्पा ने अनिल को जाते हुये देखा; किन्तु उसके अधर न खुले! कदाचित् इसका कारण यह था, कि उसका हृदय क्रोध की आग से जल रहा था; और उड़ रहा था मन, चिन्ता की आँधी में।

[३]

बाबू, क्या मैं आपसे कुछ पूछ सकता हूँ?

विक्टोरिया पार्क में एक बैंच पर बैठे हुये एक उदास व्यक्ति से एक अधेड़ पुरुष ने पूछा।

अधेड़ पुरुष की वेश-भूषा यद्यपि विकृत थी, यद्यपि उसकी आकृति पर, और उसकी बातों से भी प्रत्यक्षतः रुक्षता लिपटी हुई थी, पर उसके कथन में जो सहानुभूति थी, उससे वह उदास व्यक्ति उसकी आकर्षित हो उठा, और दुःखपूर्ण स्वर में बोल पड़ा—पूछो भाई; क्या पूछना चाहते हो?

अधेड़ पुरुष ने एक बार ध्यानसे उसकी ओर देखा। वह उसे देख कर कुछ देर तक मन ही मन सोचता रहा। ऐसा लगा, मानों कुछ स्थिर कर रहा हो, फिर वह बोल उठा—मैं आपको दो-तीन दिनों से इसी पार्क में बैठा हुआ देख रहा हूँ। क्या मैं आप से पूछ सकता हूँ, कि आपका घर कहाँ है?

उदास व्यक्ति ने अधेड़ पुरुष की ओर देखा। उसकी आँखों में करुणा और पीड़ा के उफान उठ रहे थे। उसने उस अधेड़ की ओर देख कर अपना सिर नत कर लिया। ऐसा लगा, जैसे वह उसकी बात का उत्तर देने के लिये मन ही मन कुछ सोच रहा हो। वह कुछ देर तक सोचता रहा; फिर मन्द स्वर में बोल उठा—कहाँ बताऊँ भाई, कि घर कहाँ है?

क्यों, क्या वे घर-द्वार के हो!—वह अधेड़ व्यक्ति शीघ्र ही बोल उठा।

उदास व्यक्ति ने पुनः उस अधेड़ पुरुप की ओर देखा और इस वार जब उसने उसकी ओर देखा, तब दोनों की ऑखें एक दूसरे से मिल गईं। निराश व्यक्ति की ऑखे तो अधेड़ पुरुष की ऑखों से टकरा कर नीचे झुक गईं, पर अधेड़ पुरुप उसकी ओर देखता ही रह गया। उसे ऐसा लगा, जैसे कोई रहस्य हो, और उसे अपनी ओर आकर्षित कर रहा हो!

वह कुछ क्षणों तक रहस्य मयीं दृष्टि से उसकी ओर देखता रहा; फिर सहानुभूति के स्वर मे बोल उठा—यदि आपको असुविधा न हो तो आप मेरे साथ चल कर रह सकते है!

उदास व्यक्ति ने पुनः करुणा मयी दृष्टि से उस अधेड़ की ओर देखा! पर अब की दृष्टि पात में पहले से अन्तर था। पहले जहाँ करुणा और पीड़ा थी, वहॉ अब एक कोने में कृतज्ञता भी झलक रही थी। उस अधेड़ व्यक्ति ने जो सहानुभूति प्रदर्शित की, उससे उसका वेदना-विह्वल हृदय द्रवित हो उठा, और स्पष्टतः उसकी सिग्धता उसके नेत्रों की पुतलियों में भी झलक आई।

कहना न होगा, कि वह उसकी सहानुभूति के तारों में बँधा हुआ उठा, और उसके पीछे-पीछे चलने लगा।

पाठक, क्या आप जानते हैं, कि यह उदास व्यक्ति जो उस अधेड़ पुरुष के पीछे-पीछे चल रहा है; कौन है? यह वही अनिल है, जिसे आप अभी अपने घर से बाहर निकलते हुये देख आये है। अनिल जब अपने घर से बाहर निकला, तो उसके हृदय पर दुख के प्रगाढ़ हिम की वर्षा सी हो रही थी। अनिल के हृदय की यह वेदना एक ऐसी वेदना थी, जिसके वेग में पड़कर मनुष्य या तो स्वयं अपने को मृत्युके अंक में सुला देता है; या शान्ति की खोज में इधर-उधर भटक ने लगता है। अनिल के हृदय में भी एक वार यह विचार प्रबल ऑधी

की भाँति उठा, कि वह अपने आपही अपने जीवन के तन्तुओं को तोड़ दे। इसमें सन्देह नहीं; कि एक बार उसका मन इस विचार के अधिक सन्निकट भी पहुँच गया था; और वह रेल की पटरी के समीप तक पहुँच गया था; पर फिर न जाने क्या सोचकर स्टेशन की ओर मुड़ पड़ा; और मन की अनिश्चित अवस्था में ही विना टिकट बम्बई की गाड़ी पर सवार हो गया।

बम्बई में पहुँच कर अनिल कई दिनों तक इधर-उधर घूमता रहा। उसकी अवस्था बिलकुल विक्षिप्तों की-सी हो गई थी। इधर दो-तीन दिनों से विक्टोरिया पार्क में बैठकर वह अपनी स्थितिपर विचार किया करता था। कभी वह सोचता, कि वह स्वयं ही अपने जीवनका सर्वान्त कर दे; और कभी जीवन को स्थिर रखने के लिये उसके मन मे नौकरी करने का विचार भी उत्पन्न हो जाता। मृत्यु और जीवन के इसी संघर्ष मे जब अनिल को उस अधेड़ पुरुष की सहानुभूति उपलब्ध हुई तो सरलता से ही उसका हृदय उसके तारों में बँध गया।

जिस प्रकार उष्णता से व्याकुल व्यक्ति के हृदय मे शीतल हवा का किंचित मात्र सचालन भी जीवन की हिलोर उठा देता है, उसी प्रकार वेदना से विह्वल हृदय पर यदि कोई सहानुभूति का हल्का भी प्रलेप कर दे, तो हृदय उसके तारो मे बँधे बिना नहीं रहता। यद्यपि उस अधेड़ पुरुष की वेश-भूषा अनिल के हृदय-पटल पर उसकी मानवता का कोई बहुत सुन्दर चित्र नही आँक रही थी, किन्तु जब उसने अनिल से सहानुभूति-पूर्ण शब्दों में अपने घर चल कर रहने के लिये कहा; तब अनिल उसके साथ-साथ चल पड़ा। कह नही सकते कि उसके घर जाकर अनिल की हार्दिक वेदना में कुछ अभाव हुआ या नही; पर अनिल की जीवन-धारा अवश्य बदल गई। अनिल शराब पीने लगा; और जुवाड़ी भी बन गया। हो सकता है, कि अपने इस नवीन संसार में पहुँच कर अनिल अपने पुराने

ससार को भूल सका हो, और भूल सकी हो उसकी वह मानसिक वेदना, जो दिन-रात उसके हृदय मे आग की भट्ठी की भॉति धधकती रहती थी।

[४]

अनिल जब अपने घर से बाहर निकला, तब उस समय तो चम्पा के हृदय पर उसका किंचित् भी प्रभाव न पड़ा, किन्तु जब कई दिनों के पश्चात् भी अनिल लौट कर घर न गया, तो चम्पा का कठोर हृदय धीरे-धीरे गलने लगा। अनिल के रहने पर भले ही उसका मूल्य चम्पा को ज्ञात न होता रहा हो; पर जब अनिल चला गया तब उसका गर्व, जो उसीतक सीमित था, ढह-सा गया। चम्पा के हृदयमे रह-रहकर पाश्चात्तापकी तरंगे उठने लगीं। वह रह-रहकर सोचने लगी, कि उसने क्यों अनिल को घर से निकलने दिया? जिस समय अनिल घर की ड्योढी लॉघ रहा था, उसने क्यों नही आगे बढ़ कर उसका हाथ पकड़ लिया? उसने रमेश के सामने क्यो तमाचा लगाने वाली बात कही?

पश्चात्ताप की तरगों मे बहते हुये चम्पा अपने और अनिल के जीवनके विविध चित्रोंको भी देखती। वह यह भी देखती, कि अस्थिचर्मावशिष्ट अनिल आवश्यकताओ की आग मे भस्म हो रहा है, और वह उसके लिये और भी अधिक आग की चिनगारियॉ विखेर रही है। वह अपने उन दैनिक व्यवहारों को भी सोचती, जब परिश्रम कर अनिल घर मे आता, और वह उष्ण वायु की भांति उसके थके हुये मनके भीतर और भी अधिक आकुलता उत्पन्न कर देती। चम्पा अपने जीवन के पिछले चित्रों को देख-देख कर व्याकुल हो उठती; और उसकी आकुलता स्पष्टतः उसके नेत्रो मे भी झलक उठती। चम्पा पहले तो इस आशा में थी, कि अनिल अवश्य दो-चार दिनों में लौट कर

आ जायगा; किन्तु जब एक सप्ताह के पश्चात् भी कहीं अनिल का पता न लगा, तो उसकी आशा के तार टूट गये, और वह अधिक समाकुल हो उठी।

दोपहर का समय था। चम्पा अपने कमरे में चारपाई पर पड़ी थी। उसकी आँखें श्रावण के बादलों की भाँति भरी हुई थीं। रह रह कर उसकी भरी हुई आँखों के सामने वे चित्र आ रहे थे, जो चम्पा और अनिल के सम्मिलित जीवन से निर्मित हुये थे। बहुत सम्भव है, कि वे चित्र चम्पा की भरी हुई आँखों को सहला देते, और चम्पा की आँखें बरसने लगतीं; पर सहसा द्वार के कपाट की जंजीर खटकी; और चम्पा उत्कण्ठा पूर्वक चारपाईसे उठकर खड़ी हो गई। उसनेकमरे से बाहर निकलकर देखा, रमेश किवाड़ खोलकर भीतर चला आ रहा है।

चम्पा को देखते ही रमेश के दोनों हाथ जुट गये और वह उसे नमस्ते करते हुआ बोल उठा, भाभी, ईश्वर को कोटि-कोटि धन्यवाद। अनिल बाबू का पता लग गया। वे बम्बई में हैं, पर....।

रमेश की आकृति पर उदासीनता दौड़ उठी। ऐसा लगा, जैसे वह आगे जो कुछ कहना चाहता है, उसके स्मरणमात्र से उसका हृदय समाकुल हो उठा। चम्पा ने नेत्रों में विस्मय भर कर रमेश की ओर देखा; और वह अधिक विस्मय के साथ ही रमेश की ओर देखती हुई बोल उठी, पर क्या भैया! कहो, चुप क्यों हो गये?

रमेश ने चम्पा की ओर देखा! चम्पा की आकृतिपर दुखकी काली घटा सी घिरी हुई थी। रमेश अपनी वाणी में सहानुभूति लपेट कर बोल उठा—मैं बम्बई गया था भाभी! अनिल बाबू का पता बड़ी कठिनाई से लगा। किन्तु जब मैंने उनसे घर लौट चलने के लिये कहा, तब उन्होंने अस्वीकार कर दिया।

अस्वीकार कर दिया!—रमेश की बात समाप्त होने के साथ ही साथ चम्पा के मुख से विस्मय पूर्वक निकल पड़ा।

हाँ भाभी!—रमेश ने चम्पा की ओर देख कर दुखपूर्ण स्वर मे उत्तर दिया।

चम्पा कुछ देर तक मौन रही। रमेश ने चम्पा की इस मौन स्थिति में कई बार उसकी ओर देखा। इसमें सन्देह नहीं, कि यदि चम्पा कुछ देर तक और मौन रहती, तो रमेश के अधर अपने आप ही खुल जाते, पर इसी बीच में चम्पा, विचारो में डूबी हुई, अपने आप बोल उठी, क्या तुम उनका पता जानते हो भैया!

मै अनिल बाबू से मिल कर आया हूँ भाभी!—रमेश शीघ्र बोल उठा—उन्होंने एक मिल मे नौकरी कर ली है!

तब तुम मुझे उनके पास पहुँचा दो भैया!—चम्पा ने आकुलता के स्वर मे कहा—मुझे विश्वास है कि मै उनके पास पहुँचकर उन्हे अवश्य लौटाल लाऊँगी!

जो तुम्हारी आज्ञा हो भाभी!—रमेश चम्पाकी ओर देखता हुआ शीघ्र बोल उठा।

चम्पा ने रमेश की उस दृष्टि को देखा! रमेश की दृष्टि में स्पष्टतः रहस्य का समुद्र सा लहरा रहा था। कह नहीं सकते, कि चम्पा ने उस समुद्र को भी देखा या नहीं, पर जब सन्ध्या हुई, और जब मानव से लेकर पक्षी तक अपने अपने घरो को लौटने के लिये समाकुल हो रहे थे, तब चम्पा अपने घर को छोड़कर रमेश के साथ बम्बई की ओर ट्रेन पर भागी जा रही थी!

× × × ×

रात्रि के आठ-नौ बज रहे थे। बम्बई की एक सघन गली मे एक कमरे मे बैठ कर कुछ लोग कौड़ियाँ खनका रहे थे। कमरे मे एक ओर टेबुल पर कई बोतलें और कुछ प्यालियाँ रक्खी हुई थी। कदाचित उसमें शराब थी जो जुए की सहचरी समझी जाती है। यद्यपि कमरे के आसपास चारो ओर स्तब्धता का राज्य था, पर कमरे मे कौड़ियाँ

की खनखनाहट के साथ साथ द्यूत क्रीड़ा की सुस्वरित परम्परा भी अपना अस्तित्व स्थापित किये हुये थी।

सहसा एक व्यक्ति कमरे के द्वार पर आकर उपस्थित हुआ, जिसके पीछे एक स्त्री खड़ी थी, जो बुर्का ओढ़े हुये थी। उस व्यक्ति ने जुआड़ियों में से एक को अपनी ओर आकर्षित करते हुये कहा -- बाबू जी!

हाँ जी!--जुवाड़ियों में से एक व्यक्ति द्वार की ओर देखते हुये बोल उठा--ओ! अच्छा, भीतर ले चलो, मैं अभी आता हूँ।

शेष जुवाड़ियों की दृष्टि भी द्वार की ओर आकर्षित हो उठी, और व्यंग्य के स्वर में विभिन्न अर्थवाली विभिन्न वाणियाँ फूट पड़ीं। वह व्यक्ति जो उस कमरे का मालिक-सा ज्ञात हो रहा था, हाथ में आई हुई कौड़ी को भूमि पर रखते हुये बोल उठा--अच्छा भाई अब बन्द करो।

जुवाड़ियों के अधर फिर खुल पड़े और फिर वही विभिन्न अर्थों-वाली व्यंग्य-वाणियाँ! पर उस व्यक्ति ने किसी की बात की ओर ध्यान न दिया। वह कौड़ी भूमि पर रखकर उठा और बोतल से शराब उँडेलकर पीने लगा। उसके उठने पर दूसरे जुवाड़ियों ने भी उठ कर उसीका अनुगमन किया। सब तो शराब पी पीकर गली की स्तब्धता में समाविष्ट हो गये, रह गया केवल वही एकाकी। उसने दूसरी बार फिर प्याले में शराब उँडेलकर पी। फिर उसने दीवाल में लगे हुये दर्पण के सम्मुख खड़े होकर अपना मुँह देखा और फिर बाहरी द्वार का कपाट बन्द कर सीढियों से होता हुआ घर के उस स्थान में पहुँचा, जहाँ एक व्यक्ति एक स्त्री के साथ, जिसकी आकृति पर बुर्का पड़ा हुआ था, उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। उसे देखते ही वह व्यक्ति उठकर खड़ा हो गया। उसने संकेत करके अलग उसे अपने पास बुलाकर उसके कानों में कुछ कहा। वह स्त्री को वहीं उसके पास छोड़कर सीढ़ियों से नीचे चला गया।

स्त्री चुपचाप बुर्का ओढकर बैठी हुई थी। ऐसा लगता था, मानों

उसके शरीर के अंगो से क्रियाशीलता सम्पूर्ण रूप से निकल गई हो। उस व्यक्ति ने उसके समीप जाकर अपने हाथों से उसका बुर्का उठा दिया। बुर्का उठाने के साथ ही वह दो पग पीछे हटता हुआ विस्मय पूर्वक बोल उठा—तुम ! चम्पा !!

स्त्रीने चकित होकर उस व्यक्ति की ओर देखा, और देखने के साथ ही उसके भी मुख से विस्मय पूर्वक निकल पड़ा—मेरे स्वामी !

पाठक, क्या आप जानते है, कि वह व्यक्ति कौन था; और कौन थी, वह स्त्री ! वह व्यक्ति था, अनिल और वह स्त्री थी, उसकी पत्नी चम्पा। अनिल जब उस व्यक्ति के साथ जाकर रहने लगा, तब उसके संपर्क में पड़कर वह जुवाड़ी और शराबी बन गया। उसने जुए में बहुत से रुपये जीते। जब उसके पास रुपये हो गये, तो वह अलग मकान लेकर वीभत्स जीवन व्यतीत करने लगा। इधर रमेश, जिसके हृदय में पहले से ही चम्पा के प्रति लोलुपता की आँधी दौड़ रही थी, अवसर पाकर उसे बहकाकर बम्बई ले गया। पहले तो रमेश की बातो पर चम्पा को किंचित मात्र भी अविश्वास न हुआ, किन्तु बम्बई पहुँचने पर शीघ्र ही रमेश के षडयंत्र का जाल छिन्न-भिन्न हो उठा, और उसकी आँखों के सामने वास्तविक चित्र नाच उठा। चम्पा अवसर पाकर रमेश के हाथो से निकल भागी, किन्तु फिर कुछ कूट चक्रियों के हाथो मे आग्रस्त हो गई; और वे रुपये के लोभवश उस अनिल के पास ले गये; जो जुए मे रुपये जीतकर दोनों हाथो से उसे विलास की आग में झोंक रहा था।

अनिल कुछ देर तक बड़े ध्यान से चम्पा की ओर देखता रहा। फिर नेत्रों मे दुख की परछाईं नचाकर बोल उठा—क्या नई साड़ी की खोज में निकली हो चम्पा !

और इसके साथ ही अनिल की त्योरियाँ चढ़ गईं, किन्तु जब तक उसके भीतर की आग बाहर निकले, चम्पा दौडकर उसके चरणों पर

गिर पड़ी, और पीड़ा भरे स्वर में बोल उठी—क्षमा करो नाथ!

अनिल गंभीर होकर सोचने लगा। इसी समय उसे ऐसा लगा, मानों उसके पगके ऊपर कुछ गरम-गरम गिर रहा है। अनिल ने जब अपने पैर की ओर देखा, तो उसका पैर आँसू से अभिसिंचित हो उठा था; और आँसू की बूँदें पैर पर न समाकर टपक-टपक कर भूमि पर गिर रही थी। अनिल के दोनों हाथ चम्पा की ओर बढ गये; और वह चम्पा को उठाता हुआ बोल उठा—उठो मेरी रानी, तुम्हारी कहानी सुनने के लिये मेरा हृदय आकुल हो रहा है।

कह नहीं सकते, कि चम्पा की कहानी सुनने के पश्चात् अनिल के हृदय में किस प्रकार के भाव उठे, पर अनिल और चम्पा फिर दाम्पत्य जीवन के मार्ग पर चलने लगे। दोनों का वह संसार! उसपर पारस्परिक प्रेम के पराग बरसा करते थे।

विमाता का हृदय
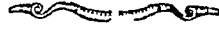
दीपक की ज्योति शनैः शनैः धूमिल हो रही थी।

सचमुच वह दीपक की ज्योति ही के सदृश थी। उस से मुकुल का जीवन-संसार आलोकित तो रहता ही था; उसका अन्तर्जगत भी शक्ति और प्राण का अनुभव करता था। उसका नाम भी तो ज्योतिष्मती था। वह ज्योतिष्मती की ही भाँति मुकुल की रग-रग में ज्योति संचार किया करती थी। यद्यपि वह वाह्य संसार मे आकर किसी काम मे मुकुल का हाथ न बँटाती, पर उसके द्वारा मुकुल के प्राण को जो ज्योति मिल रही थी, उसके सहारे मुकुल बड़े से बड़े काम मे हाथ डाल देता। निराशा का मरुस्थल सामने पडा होता, आपत्तियों की झाडियाँ अपने तीव्र नखो को उठाकर हृदय नोचने के लिये खडी होती; पर मुकुल आँधी की भाँति मरुस्थल मे भी दौड़ जाता; और झाड़ियों मे भी घुस जाता। मरुस्थल में भी उसके अधरों पर हास्य, और झाँडियो मे भी उसके नेत्रों में उन्माद की लालिमा! मुकुल के जीवन का हास्य, और उसके नेत्रो की लालिमा। वही उसकी पत्नी ज्योतिष्मती थी; जो उसके अन्तर और वाह्य जगत मे ज्योति वन कर सचरण किया करती थी।

ज्योतिष्मती इधर कई महीने से बीमार थी। पहले तो मुकुल ने समझा था, कि वह रोग की हलकी थपकियाँ खाकर उठ बैठेगी, किन्तु जव दो-तीन सप्ताह के पश्चात् भी उसकी अवस्था में कुछ परिवर्तन होता हुआ दृष्टि गोचर न हुआ, तब मुकुल के मन के भीतर चिन्ता और व्याकुलता की आँधी दौड़ने लगी। मुकुलके पास पैसो का अभाव न था। वह ज्योतिष्मतीकी जीवन-ज्योति के लिये दोनो हाथो से पैसा

खींचने लगा। वह अपना काम काज छोड़कर दिन-रात ज्योतिष्मती के समीप बैठा रहता; और उसकी उस ज्योति की ओर टकटकी लगा कर देखा करता; जो निर्वाण प्राप्त करने के पूर्व, योगी के हृदय की भाँति, सांसारिक वैभवों से अपना संबंध तोड़ रही थी।

सन्ध्या का समय था। प्रकृति के भाल पर सूर्य्य स्त्री की बेंदी की भाँति चमक रहा था। कुछ ही देर के पश्चात् नगर के सभी घरों में दीपक जलने वाले थे, पर ज्योतिष्मती की जीवन-ज्योति बुझने के लिये झिलमिला रही थी। मुकुल आँखों में नैराश्य भर कर उस झिलमिलाती हुई ज्योति को टकटकी लगा कर देख रहा था। उसी प्रकार, जिस प्रकार पतिंगा बुझने वाले प्रकाश की ओर दुख भरे नेत्रों से देखा करता है।

प्रकाश भीतर ही भीतर धूम्र का संचय कर रहा था; पर वह अभी बुझा न था। बुझने के पूर्व वह एक बार जोर से झिलमिला उठा, और उसकी मलिनता के ऊपर अरुणिमा की एक तरंग-सी दौड़ उठी। मुकुल जो उसकी ओर टकटकी लगाकर देख रहा था, विस्मित होकर बोल उठा—क्या है ज्योति ?

कुछ तो नहीं!—ज्योतिष्मती ने अपनी उज्वल आँखों से मुकुल की ओर देखते हुये मन्द स्वर में उत्तर दिया।

ज्योतिष्मती की वे उज्वल आँखें! स्पष्टतः जीवित श्यामता उनके भीतर से प्रस्थान कर चुकी थी; और जो कुछ अवशेष थी; वह भी नदी के कगार की भाँति शनैः शनैः कटती जा रही थी। मुकुल का हृदय आशंका से पत्ते की भाँति काँप उठा। उसने ध्यान से एक बार ज्योतिष्मती की उस आकृति की ओर देखा, जो शनैः शनैः रंग-हीन उज्वलता के आवरण से ढँकती जा रही थी। मुकुल अपना दाहिना हाथ ज्योतिष्मती की छाती पर रख कर उसकी साँस की धड़कन देखने लगा, और देखते ही देखते बोल उठा—ज्योतिष्मती!

ज्योतिष्मती ने पुनः मुकुल की ओर देखा; और देख कर जैसे वह अधिक गंभीर-सी बन गई! वह कुछ देर तक अपनी उसी अवस्था मे मौन रही, फिर मुकुल की ओर देखती हुई बोल उठी—क्या देख रहे है, साँसे! आँधी की भाँति चल रही है न! शान्ति की चिर निद्रा में सोने के पूर्व इसी प्रकार साँसे आँधी बन जाती है! बेचारी टूटने के पूर्व विद्रोह की भावना से पूर्ण हो उठती है, किन्तु कदाचित् वे यह नहीं जानती, कि वे जिसके प्रति विद्रोह कर रही है, वह सभी विद्रोहों का सम्राट है!

कहते कहते ज्योतिष्मती का स्वर अधिक मन्द पड गया; और वह मौन हो गई। ऐसा लगा, जैसे उसका वाणी-बन्धन ढीला पड़ता जा रहा हो। मुकुल उसकी ओर देखता हुआ शीघ्र बोल उठा—यह तुम क्या कह रही हो ज्योति? अधिक न बोलो! तुम अधिक कमजोर हो गई हो!

हाँ, अब न बोलूँगी!—ज्योतिष्मती मुकुल की ओर देखती हुई पुनः बोल उठी—आप ही नहीं, कोई और भी न बोलने के लिये मुझसे कह रहा है। पर !

ज्योतिष्मती मौन हो गई। जैसे वह कुछ सोचने लगी हो। मुकुल उसकी विचार—मुद्रा को लक्ष्य करके दुख पूर्ण स्वर मे शीघ्र बोल उठा—कहो कहो, ज्योति, चुप क्यों हो गई?

हाँ कहूँगी, अवश्य कहूँगी!—ज्योतिष्मती कुछ आवेग मे आकर बोल उठी—बिना कहे चुप न हूँगी, कभी न चुप हूँगी! किरण कहाँ है?

वह तुम्हारे सामने ही तो खड़ी है!—मुकुल बोल उठा।

ज्योतिष्मती ने दूसरी ओर दृष्टि घुमा कर देखा। दस ग्यारह वर्ष का वय, गौर वर्ण, सुन्दर साँचे मे ढली हुई-सी आकृति और आकृति पर भोलेपन का समुद्र! तारिका की भाँति झिलमिलाती हुई विस्मित दृष्टि से ज्योतिष्मती की ओर देख रही थी। ज्योतिष्मती कुछ

देर तक उसकी ओर देखती रही; फिर संकेत से उसे अपने समीप बुला कर उसका मुख चूमने के लिये अपना सिर उठाया; और साथ ही अधरों के संपुट भी खुल गये—यह मेरी किरण . .इसे. ..

पर सिर आधा ही उठकर फिर नीचे झुक गया; और अधर आधी बात कह करके ही फिर बन्द हो गये। किरण ज्योतिष्मती के अधरों पर अपना कपोल रखकर चीत्कार कर उठी—माँ !

पर अब माँ कहाँ थी ? ज्योति बुझ गई थी, और उससे अब धुँआ फूट रहा था। पर मुकुल अब भी टकटकी लगाकर उस धुँये की ओर देख रहा था ! कदाचित् धुँये के बीच से कहीं ज्योति दृष्टिगोचर हो जाय !

[२]

मानव-जीवन बहता हुआ पानी है। जिस प्रकार जल के प्रवाह को किसी स्थान से मोह नहीं होता, वही हाल मानव जीवन का है। कहने को मानव जीवन में मोह होता है; आसक्ति होती है; पर वास्तव में देखा जाय तो मानव जीवन का मोह और उसकी आसक्ति, ठीक जल-प्रवाह की ही भाँति, आवश्यकता के धरातल पर फिसलती हुई चलती है। मुकुल का मोह भी ऐसा ही था। ज्योतिष्मती के मर जाने पर कुछ दिनों तक तो उसका मोह मुकुल के हृदय को अपने बन्धन में जकड़े हुये रहा; पर ज्यों ज्यों समय अपने चक्र पर घूमने लगा, त्यों त्यों मुकुल के मोह का बन्धन भी ढीला होने लगा, और कुछ दिनों में इतना ढीला हो गया, कि वह मुक्त-सा हो गया।

अब केवल मुकुल के हृदय में ज्योतिष्मती की स्मृति-मात्र अवशेष रह गई थी। ज्योतिष्मती की बीमारी के दिनों में प्रायः मुकुल यह सोच कर विकम्पित हो उठता था, कि यदि कहीं ज्योतिष्मती के जीवन-तार टूट गये, तो फिर वह अपने जीवन के तारों को कैसे स्थिर रख सकेगा ; पर कदाचित् मुकुल को यह ज्ञात नहीं था, कि

संसार अपने समय के तीव्र क्षार-पदार्थ से न जाने कितनों के हृदयों की स्मृतियों को साफ करके बैठा हुआ है। समय ने मुकुल के हृदय को भी धोकर साफ कर दिया; और अब केवल कभी-कभी ही ज्योतिष्मती की स्मृति तारिका की भाँति उसके जीवन-गगन पर झलक उठती थी।

आश्चर्य नही, वह स्मृति भी संसार के कार्यों के घटाटोप से ढँक जाय ! मुकुल को अब ज्योतिष्मती की स्मृति आकुल न करती। ज्योतिष्मती की मृत्यु के पश्चात् वह जहाँ उसकी स्मृति की शराब पीकर व्याकुल बना फिरता था, वहाँ अब एकान्तता उसके मन के भीतर आकुलता का तूफान उठाने लगी। वह दिन भर काम-काज करने के पश्चात् जब अपने घर मे पैर रखता, तब एकान्तता उसे खलती, और उसका हृदय भीतर ही भीतर कुछ अनुभव करता। पहले कुछ दिनों तक तो मुकुल किरण से इधर-उधर की बाते करके अपने हृदय के उस अभाव को टालने का प्रयत्न करता रहा, पर जब अभाव अन्तर मे अधिक प्रवेश कर गया; तब स्पष्टतः उसके हृदय-पटल-पर नारी के लिये आकाक्षाओं के विभिन्न चित्र बनने लगे! यद्यपि अभी वे चित्र भीतर ही भीतर बन कर मिट जाते थे, पर उनकी रेखा तो धीरे-धीरे अधिक प्रगाढ ही होती जा रही थी।

मुकुल अभी प्रौढ था; और उसके पास धन का भी अभाव न था! उसकी विभिन्न नगरोमें कई आढते चल रही थी। हमारे समाजमे जिसके पास धन हो, चाहे वह चिता का चुम्बन करने के लिये उसकी ओर अपना मुखही क्यो न वढा रहा हो; पर उसके लिये कुमारी कन्याओं की कमी नही रहती ! मुकुल तो अभी प्रौढ़ था। ज्योतिष्मती के मरने के साथ ही, उसके समाज मे उसके विवाह की बात चीत आने लगी; पर मुकुल कुछ दिनों तक तो उसे टालता रहा ! कह नही सकते, ज्योतिष्मती की स्मृति के कारण, या समाज की भर्त्सना के

कारण, पर कुछ दिनों के पश्चात् ही जब अभाव की पीड़ा काटने लगी, तब सैकड़ों 'हॉ' और 'ना' के झूले पर झूल कर मुकुल ने अपना दूसरा विवाह कर लिया, और ज्योतिष्मती का चित्र उसके हृदय-पटल से धुल गया, बिलकुल धुल गया !

पहले जहॉ मुकुल का हृदय गगन में ज्योतिष्मती तारिका की भॉति झिलमिलाया करती थी, वहॉ अब झिलमिलाने लगी अनुराधा। पहले जहॉ मुकुल की तन्मयता ज्योतिष्मती में थी, वहॉ अब तन्मय रहने लगा वह अनुराधा में। अनुराधा की तन्मयता में किरण की चिन्ता भी उसके हृदय में शनैः शनैः धूमिल होने लगी। पहले जब वह अपनी दूकान से लौटकर आता, तो किरण से बातचीत करके अपने हृदय का भार हलका किया करता था। पर अब किरण उसके हृदय-सिंहासन से नीचे खिसक गई। अब उसे किरण का बहुत कम ध्यान रहता। अब वह अपना समय अनुराधा के ही साथ व्यतीत करता; और जब किरण उसमें बाधा पहुँचाती, तो मुकुल को तो कम अप्रसन्नता होती, किन्तु अनुराधा का हृदय कोप की आग से जल-भुन उठता, और कभी-कभी वह इसी के लिये किरण को झिड़क भी दिया करती थी।

मानव हृदय बड़ा अद्भुत होता है। कहने को वह सचेतन होता है, पर उसके प्रेम और उसके त्याग में स्वार्थ की जो दुर्गन्ध आती है, उसे देखकर तो यही कहना पड़ता है, कि जिन्हें हम जड़ और अज्ञान कहते है, उससे वे अच्छे होते हैं। मानव हृदय का सारा प्रेम और सारा त्याग केवल स्वार्थ ही के निमित्त होता है। अनुराधा ने जब मुकुल के जीवन-संसार में प्रवेश करके देखा, कि उसके किसी भी स्वार्थ का संबंध किरण से नहीं है, तब वह किरण के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करने लगी। कभी-कभी वह किरण को डॉट भी देती। इतना ही नहीं, कभी-कभी वह उसे दो-एक चपत भी लगा दिया करती थी। शनैः शनैः अनुराधा की उपेक्षा इतनी बढ गई, कि वह

अब बात-बात में किरण को झिड़कने लगी। जहाँ उससे कोई तनिक भूल हुई नहीं, कि अनुराधा बादल की तरह उसपर गरज उठती थी। किरण ने पहले अनुराधा की झिड़कियों को बड़े विस्मय के साथ सुना, किन्तु फिर विस्मय ने करुणा का स्वरूप धारण कर लिया, और जब विस्मय ने करुणा का स्वरूप धारण कर लिया, तब किरण की आँखों में आँसू छलक उठने लगे। अनुराधा अब जब कभी किरण को झिड़कती, तो किरण चुपचाप एक कमरे मे जाकर रो लिया करती थी। मुकुल भी किरण की मूक आँखों के आँसुओं को देखता, किन्तु वह मौन ही रहता। ऐसा नहीं, कि उसके हृदय को दुख न होता, पर जो कुछ दुख होता, वह अनुराधा की तन्मयता मे डूब जाता, और किरण की आँसुओं से भरी हुई आँखे भरी ही रह जाती।

किरण स्कूल मे पढ रही थी। पर जब अनुराधा आई; और उसका मुकुल के हृदय पर राज्य स्थापित हो गया, तब उसने मुकुल से कहकर उसका पढना-लिखना भी बन्द करा दिया। अब किरण घरमें ही रहती; और अनुराधा की आज्ञा-पालन मे ही अपना समय व्यतीत करती। यद्यपि मुकुल के घरमें नौकर-चाकरों का अभाव न था, पर अनुराधा घर का बहुत सा काम किरण से ही लेती; और बहाना यह करती, कि किरण को दूसरे के घर जाना है, इसलिये उसे घर का कान काज सीखना ही चाहिये।

किरण जब कभी किसी कारण वश किसी काम को करने में उदासीनता प्रगट करती, तो अनुराधा झट कर्कश स्वर मे गरजती हुई कह उठती, 'जान पड़ता है, मुखमे कालिख लगाओगी। आखिर लोग यही कहेंगे, कि माँ नही थी, इसलिये लड़की बिना काम-काज सीखे हुये ही रह गई।' अनुराधा केवल कर्कश स्वर में गरज करके ही शान्त न रह जाती, बल्कि वह इसके लिये किरण को दंडित भी किया करती थी। मुकुल जब कभी अनुराधा को किरण को दंडित करने से

रोकता, तो अनुराधा बोलती तो कुछ न, किन्तु आँसू अवश्य बहाने लगती; और मुकुल से बातचीत करना ही बन्द कर देती। मुकुल के लिये यह एक बहुत बड़ी समस्या हो जाती; और इसे सुलझाने में वह अपने भीतर एक विचित्र व्याकुलता का अनुभव करता। अतः वह इस समस्या को अपने सामने आने ही न देता। अनुराधा जो कुछ किरण के साथ करती, करती, पर मुकुल कुछ न बोलता। मुकुल की इस मौनिमा से अनुराधा की आँधी दिनों दिन तीव्र ही होती गई, और तीव्र होता गया किरण की आँखों का उफान !

[३]

जाड़े के दिन थे। पानी धीरे-धीरे बरस रहा था। हवा यद्यपि मन्द-मन्द गति से चल रही थी, पर जब वह शरीर में लगती थी, तो ऐसा ज्ञात होता था मानों प्राणों पर हिम बरस रहा हो। अनुराधा ने अँगीठी के पास से उठ कर घड़ी की ओर देखा! घड़ी में सन्ध्या के छः बज रहे थे। अनुराधा अपने आप ही बोल उठी, छः बज गये, और महरिनि अभी तक नहीं आई। जान पड़ता है, आज उपवास ही करना पड़ेगा।

अनुराधा की बात कमरे की दिवालों से टकरा कर कमरे में ही गूँज गई। वह कुछ देर तक खड़ी-खड़ी सोचती रही, फिर बोल उठी—किरण !

क्या है माँ !—समीप के एक कमरे से किरण बोल उठी।

पर अनुराधा ने उसके प्रश्न का कोई उत्तर न दिया। कदाचित् इस आशा से, कि किरण जब उसके पास आजाय, तब वह यह कहेगी कि उसे बुलाने का उसका क्या अभिप्राय है। पर जब कुछ देर की प्रतीक्षा के पश्चात् भी किरण न आई; तब अनुराधा पुनः कर्कश स्वर में बोल उठी—किरण सुनती नहीं, क्या बहरी हो गई है ?

किरनने कभी अनुराधा की किसी बात का उलंघन नहीं किया। अनुराधा जब जो कुछ कहती, किरण उसे पूरा करने के लिये सदैव उद्यत रहती थी। किन्तु आज किरण को कुछ शीत लग गया था, और उसके कारण उसका शरीर भी कुछ गरम हो गया था। अतःवह अपनी चारपाई पर से ही पुनः बोल उठी—क्या है माँ!

क्या है माँ, क्या है माँ!—अनुराधा कर्कश स्वरमें बोल उठी—मै कब से यहाँ चीख रही हूँ, और रानी जी चारपाई पर पड़ी पड़ी कह रही है, कि क्या है माँ, क्या है माँ! अरे आज महरिनि नहीं आई। यह जूठा बर्तन कैसे साफ होगा?

किरण ने अनुराधा के एक-एक शब्द को सुना! यद्यपि अनुराधा के प्रत्येक शब्द ऐसे थे, जिनसे किसी भी सजीव प्राणी के हृदय मे पीडा की तरंग उद्भूत हो सकती थी, पर किरण के हृदय में कुछ भी उद्भूत न हुआ। जैसे उसके हृदय के वे पिण्ड जो चेतना, ज्ञान, और अनुभव उत्पन्न करते है, मसल कर निर्जीव बन गये हों! किरण चुप-चाप अपनी चारपाई पर ही पड़ी रही, और अपने स्वाभाविक, किन्तु बहुत ही मन्द स्वर में बोल उठी—आज मेरी तबियत खराब है माँ!

तबियत खराब है!—किरण की बात समाप्त होनेके साथ ही साथ अनुराधा बोल उठी—खाने के लिए तो तबियत खराब नहीं रहती! जब काम करने को होता है तब तबीयत खराब हो जाती है। मै क्या टहलनी हूँ, जो सबके लिये दिन भर मरा करूँ!

यह मै कब कहती हूँ माँ!—किरण मन्द स्वर मे बोल उठी—मुझ से जो कुछ होसकता है, मै करती ही हूँ। आज मेरी सचमुच तबियत खराब है, नहीं तो मै उठकर बरतन साफ कर देती!

यद्यपि किरण की बात का ऐसा कोई शब्द नहीं था जो वायु बन कर क्रोध की आग को भड़का सकता, पर जिसके हृदय मे किसी के

लिये निरन्तर द्वेष और ईर्षा की आग जला करती है, उसके लिये यह आवश्यक नही कि उसके भीतर की आग को भड़काने के लिये किसी ओर से भी तीव्र हवा चले। अनुराधा के हृदय में किरण के प्रति ईर्षा और द्वेष की आग थी ही, किरण के प्रत्युत्तर से वह और भी अधिक जल-भुन उठी, और कर्कश स्वर में गरजती हुई बोल उठी--अच्छा, आज की लड़की और मेरे साथ सवाल-जवाब करने चली है। मै देखती हूँ, कि तू बरतन कैसे नही साफ करती।

अनुराधा अपनी बात समाप्त करती हुई किरण के कमरे में जा पहुँची। किरण अपने ऊपर चद्दर डाल कर, सिकुड़ी हुई, चारपाई पर पड़ी थी। अनुराधा ने उसके समीप पहुँच कर उसका हाथ पकड़ लिया, और उसे चारपाई से खींचते हुये वह कर्कश स्वर में बोल उठी—चल बरतन साफ कर! नही तो चमड़ी उधेड़ लूँगी।

किरण ने अनुराधा की आकृति की ओर देखा। स्पष्टतः उसकी आकृति पर निर्दयता बरस रही थी। किरण उसकी आकृति की ओर देखती ही देखती बोल उठी, छोड़ दो माँ! हाथ पकड़ कर घसीटो न! मै उठ कर वर्तन साफ किये देती हूँ।

अनुराधा ने किरण का हाथ तो छोड़ दिया, पर उसका मुख बन्द न हुआ। वह किरण पर व्यंग्य-वर्षा करती हुई अपने कमरे की ओर चली गई। उसने किरण की ओर अब दृष्टिपात तक न किया। किरण जब अपनी चारपाई से उठकर खड़ी हुई, तो उसकी आँखे भरी हुई थी? वह सामने ही बगल में लगे हुये अपनी माँ, ज्योतिष्मती के चित्र के सम्मुख जाकर खड़ी हो गई। वह कुछ देर तक, वहाँ खड़ी-खड़ी अपनी भरी हुई अँखड़ियाँ अपनी माँ के चरणों पर विखेरती रही; फिर इस भय से, कि कही अनुराधा पुनः हाथ पकड़ कर घसीटने के लिये न आ जाय; वह चौके में जाकर वर्तन इकट्ठे करने लगी!

पानी बरस रहा था; और हवा शरीर में ऐसी लग रही थी मानों;

तार हो। किरण बरसते हुये पानी में बैठकर बरतन मल रही थी। जिस तरह वायु के चलने के कारण वृक्षों के पत्ते कॉप रहे थे, उसी प्रकार किरण के भीतर का प्राण भी कॉप रहा था। पर किरण के हाथ बरतन पर चलते ही जा रहे थे। मुख मुरझाया हुआ, और ऑखों में करुणा नृत्य कर रही थी। उसके ऊपर जो बूँदें पड़ रही थी, वे ऐसी ज्ञात हो रही थीं, मानों मूक बादल चीख-चीख करके उसकी दशा पर ऑसू बहा रहा हो। बादलों की भॉति ही, सहसा किरण के मुँह से एक चीख निकल पड़ी, और वह दोनों हाथों से अपना हृदय पकड़ कर, उसी जगह, भूमि पर गिर पडी।

अनुराधा ने भी किरण की चीख सुनी; और जब उसने झॉक कर देखा, तो पानी बरस रहा था; और किरण उसी बरसते हुये पानी में भीगती हुई पड़ी थी। अनुराधा झट तीव्र स्वर मे बोल उठी—यह सब विद्या मै भली भॉति जानती हूँ। मेरे सामने यह एक भी न चलेगा। बरतन मल लो तो, चाहे चीखो, चाहे चिल्लाओ।

पर किरण ने अनुराधा की बात का कुछ उत्तर न दिया। अनुराधा अपनी बात समाप्त करती हुई पुनः अपने कमरे के भीतर चली गई। अभी उसे कमरे मे गये हुये कुछ ही क्षण बीते थे, कि मुकुल आ गया। घरमें प्रवेश करते हुये मुकुल की दृष्टि किरण पर पड़ी, जो ऑगन में पनाले के पास लथ-पथ भूमि पर पड़ी हुई थी। मुकुल ने पानी से बचने के उद्देश्य से छाया मे खड़े होकर पुकारा—किरण!

एक बार, दो बार, तीन बार, पर किरण के मुख से स्वर न निकला, मुकुल का हृदय आशंका से कॉप उठा। वह हाथ का छाता फेक कर किरण के पास जा पहुँचा। देखता है तो किरण मूर्च्छना की गोद में सो रही थी, और उसका हृदय जैसे भाथी बना हुआ हो। मुकुल झट किरण को दोनों

[४]

प्रभात हो चुका था। बालारुण प्राची के झरोखे से झाँककर अपनी किरणों के द्वारा कमलिनी के हृदय मे गुदगुदी उत्पन्न कर रहा था। बाहर-भीतर, सर्वत्र सजीवता की एक नवीन लहर सी दौड पड़ी थी। किरण, उस नवीनता की तरंग मे भी शोकित, उदास, चारपाई पर पड़ी थी। रात उसने जागकर कठिनाई से व्यतीत की थी। किन्तु प्रभात होने के पूर्व उसकी ऑखे कुछ झपक गई थीं; और मुकुल, जो रातभर उसके साथ जागता रहा था, वह भी चारपाई पर लेटकर झॅपकियाॅ ले रहा था।

सहसा किरण की ऑखे खुल गईं, और वह कराहती हुई बोल उठी—बाबू!

क्या है बेटी!—मुकुल कहता हुआ चारपाई पर उठ बैठा।

और उठकर शीघ्र किरण के समीप जा पहुॅचा। उसने किरण के मस्तक पर हाथ रक्खा। किरण का मस्तक जल तो रहा था, पर पहले से कुछ कम था। किरण ने एक बार मुकुल की ओर देखा; और उसका हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचते हुये कहा—बैठो बाबू!

मुकुल ने किरण की चारपाई पर बैठने के लिये अपना एक पैर उठाया ही था, कि नौकर कमरे के द्वार पर आकर बोल उठा—बाबू, तार का चपरासी है।

मुकुल ने बाहर जाकर तार लिया, और उसे पढता हुआ वह पुनः किरण की चारपाई के पास आकर खड़ा हो गया। उसकी आकृति पर गंभीरता-सी नाच रही थी। ऐसा लगता था, मानों तार के समाचार से वह किसी गंभीर विचार-चिन्ता में मग्न हो उठा हो! अनुराधा, जो नौकर के मुख से यह सुन चुकी थी, कि कहीं से तार आया है, मुकुल के पास जाकर बोल उठी—किसका तार है?

बम्बई से आया है—मुकुल चिन्ता के साथ बोल उठा—यदि बम्बई शीघ्र नहीं जाता तो हजारों पर पानी फिर जायँगे।

मुकुल ने अपनी बात समाप्त करके किरण की ओर देखा; और उसकी आकृतिपर गहरी उदासी-सी नाच उठी। अनुराधा, जो खड़ी-खड़ी मुकुल की आकृति की ओर देख रही थी, तुरन्त बोल उठी—तो दोपहर की गाड़ी से चले न जाइये!

हाँ, चला तो जाऊँ!—मुकुल गंभीरता के साथ बोल उठा—पर किरण की हालत जो बहुत खराब है!

मुकुल ने फिर किरण की ओर देखा। किरण आँखों में करुणा भरकर मुकुल की ही ओर देख रही थी। वह यद्यपि मौन थी, पर उसकी सकरुण आँखें साफ-साफ कुछ कह रही थीं। मुकुल कभी किरण की उन आँखों की ओर देखता और कभी उस तार की ओर अनुराधा का ध्यान तो किरण की ओर नहीं था, पर वह बड़े से मुकुल की आकृति की ओर देख रही थी। मुकुल को से पड़ा हुआ देख कर वह बोल उठी—किरण बीमार है तो काज भी तो देखना है, और फिर आज उसकी तबीयत भी अच्छी है।

मुकुल ने कुछ उत्तर न दिया। वह केवल किरण की ओर दृष्टि देखकर नीचे चला गया। यद्यपि मुकुल किरण को छोड़ जाना नहीं चाहता था, पर अनुराधा को कदापि यह स्वीकार न कि उसके हजारों रुपये मिट्टी में मिल जायँ। अतः वह मुकुल बम्बई भेजने के लिये अपने नारी हृदय के प्रत्येक तर्क का करने लगी। अनुराधा के तर्कों ने मुकुल के हृदय के द्वैविध्य को स्वच्छ कर दिया और; और वह बम्बई जानेके लिये तैयार हो ग

किरण चारपाई पर पड़े-पड़े अनुराधा और मुकुल की बा सुनती रही। मुकुलके बम्बई गमनके समाचारका उसकेहृदय पर

प्रभाव पड़ा कह नहीं सकते, किन्तु जब मुकुल तैयार हो कर उससे विदा लेने के लिये गया, तो मुकुल के बोलने के पहले ही वह करुणा पूर्ण स्वर में बोल उठी–जा रहे है बाबू .. अच्छा नमस्कार!

हॉं बेटी, मै जा रहा हूँ, शीघ्र ही लौट आऊँगा!—मुकुल बोल उठा—तुम्हारी माता जी है हीं! तुम्हें कोई कष्ट न होगा।

पर किरण ने कोई उत्तर न दिया। वह केवल ऑंख बन्द करके रह गई। मुकुल फिर किरण से कुछ कहने के लिये मुख खोलना ही चाहता था, कि उसके पूर्व ही अनुराधा बोल उठी–गाड़ी छूट जायगी। किरण क्या कहीं चली जाती है!

मुकुल ने घड़ी की ओर देखा! सचमुच गाडी का समय सन्निकट था। 'अच्छा बेटी मै जा रहा हूँ!' यह कह कर मुकुल ने विदा ली, किन्तु किरणने कोई उत्तर न दिया। जब उसने अपनी ऑंख खोली, तब मुकुल चला गया था। किरण की ऑंखे भर आई। उसकी ऑंखों के वे ऑंसू! उन्हें पृथ्वी के अतिरिक्त और कहॉं सहारा था!

× + + +

मुकुल के बम्बई चले जाने पर किरण का स्वास्थ्य दिनों दिन अधिक गिरने लगा। अनुराधा किरण के प्रति प्रायः उदासीन ही रहती। वह अपने कर्तव्य की इतिश्री केवल इतनी ही बात में समझती कि वह किरण को भोजन और पानी पूछ लिया करती थी। मुकुल के चले जाने पर अनुराधा ने कभी किसी डाक्टर को बुलाकर न दिखाया। किरण का स्वास्थ्य जब अधिक क्षीण हो गया, तब कभी-कभी वह पड़ोसके एक साधारण वैद्य को बुलाकर किरण को दिखा दिया करती थी, और उन्हीं वैद्य जी की दवा भी वह किरण को देती थी। यद्यपि मुकुल अपने हर एक पत्र में बम्बई से लिखा करता, कि किरण की अच्छी से अच्छी चिकित्सा करना, पर अनुराधा मुकुल की इस बात पर कभी ध्यान न देती। वह जब अपने पत्र मे किरण की चर्चा करती,तो यही

लिखती, कि किरण का स्वास्थ्य धीरे धीरे ठीक हो रहा है। अनुराधा को इस बात की बहुत बड़ी चिन्ता रहती, कि कहीं मुकुल को किरण की वास्तविक स्थिति का पता न लग जाय। यदि कहीं ऐसा हुआ तो मुकुल एक क्षण के लिये भी बम्बई में न रुकेगा! और हजारों रुपये का व्यापार मिट्टी में मिल जायगा! अतः अनुराधा बार-बार लिखने पर भी मुकुल से किरण की वास्तविक स्थिति छिपाती रही; और उसने उस समय भी किरण की वास्तविक स्थिति मुकुल से छिपाई जब किरण सांसारिक बन्धनों को तोड़ कर दूर, बहुत दूर निकल गई।

धन्य है मानव का हृदय! स्वार्थ की शिला पर बैठ कर वह मानवता का गला घोंटने मे तनिक भी संकोच नही करता!

[५]

दिन के दो-तीन बज रहे थे। दो महीने के पश्चात् मुकुल बम्बई से लौट कर, अपने द्वार पर ताँगे से उतरा। उसकी आकृति पर प्रफुल्लता नृत्य कर रही थी। बम्बई में रह कर, दो महीने में ही, उसने पचीसों हजार रुपये पैदा किये थे। उसके साथ कई बाक्स भी थे, जिनमें तरह-तरह के सामान भरे हुये थे।

ताँगे से उतर कर मुकुल ने घर के भीतर प्रवेश किया। सर्व प्रथम उसकी दृष्टि किरण की चारपाई पर पड़ी। चारपाई खाली थी, और उस पर, खिड़की के मार्ग से आकर, एक सूर्य-किरण खेल रही थी। न जाने क्यों, मुकुल का हृदय आशंका से काँप उठा; पर फिर भी वह बोल उठा—किरण, बेटी किरण!!

मुकुल की वाणी कमरे में ही गूँज कर रह गई। चारपाई पर खेलती हुई सूर्य की किरण मुकुल के पैरों तक बढ़ आई। जब मुकुल को कुछ उत्तर न मिला; तब मुकुल ने सामने अनुराधा के कमरे की

ओर देखा। द्वार पर अनुराधा खड़ी थी; और उसकी आँखें कुछ डब-डबा हुई सी ज्ञात हो रही थीं!

मुकुल की आँखों के सामने एक चित्र-सा खिंच गया। मुकुल ने उस चित्र में देखा, अनुराधा पिशाचिनी की भाँति किरण को तड़पा-तड़पा कर मार रही है। मुकुल कुछ देर तक खड़ा-खड़ा उस चित्र को देखता रहा, फिर उल्टे ही पैरों घर से बाहर निकल कर अदृश्य हो गया।

कहाँ गया, कौन जाने, पर सुनते हैं उसके जाने के पश्चात् अनुराधा पागल हो गई, और वह चारों ओर घूम-घूम कर यही कहा करती थी, कि किरण की जान उसी ने ली, उसी ने। लड़के उसकी इस बात पर ताली बजाते थे; पर वह किसी की बात पर ध्यान न देकर केवल अपनी ही बात पर ध्यान देती थी।

लालसा का अन्त

सुभागी का शरीर गरम था, और वह अपनी चारपाई पर आँखें बन्द करके पड़ी थी।

दो वर्ष का उसका छोटा शिशु, उसके वक्षःस्थल पर लोट-लोटकर, कभी इस स्तन को और कभी उस स्तन को अपने मुँह में डाल रहा था, मानों कोई सन्यासी हो, जो अपनी आन्तरिक भूख से समाकुल होकर जगत द्वारा निर्मित ईश्वर के साकार और निराकार स्वरूप में सत्य का अनुसंधान कर रहा हो।

सुभागी चुपचाप, चारपाई पर चित पड़ी थी। उसके दाहिने हाथ का मध्यभाग नाक के ऊपर घेरा बनाकर पड़ा था। कह नहीं सकते, कि उसके मनके भीतर क्या था? किन्तु यह तो निश्चित है, कि उसकी आँखों में नींद नही थी। सहसा वह किसी के कंठ-स्वर को सुनकर बोल उठी—क्या है जीजी!

कंठ स्वर पार्श्व ही के एक दूसरे कक्ष से निर्गत हुआ था, और जिसके कंठ से निर्गत हुआ था, उसका नाम था सुजाता। सुजाता सुभागी के पति के बड़े भाई की, जो तहसील में मुख्तारी करते थे, पत्नी थी। सुभागी जब 'क्या है जीजी' कहकर मौन हो गई; और सुजाता की अधिक प्रतीक्षा के पश्चात् भी उसके सामने उसकी परछाईं न झलकी, तो सुजाता पुनः कुछ व्यंग्य-पूर्ण स्वर में बोल उठी—अरे, मै पूछती हूँ कुछ खाना-वाना बनेगा या नही?

सुभागी ने सुजाता का कंठ-स्वर सुना; और यह भी अनुभव किया, कि उसका कंठ-स्वर व्यंग्य के धनुष पर वाण की भाँति खिचा

हुआ है. पर फिर भी वह अपने स्वाभाविक ही स्वर में बोल उठी—आज आप ही बना लीजिये जीजी ! आज मुझे ज्वर है ।

कह नही सकते, कि सुभागी के कथन के पूर्व सुजाता के हृदय में आग थी, या नहीं, किन्तु जब सुभागी ने अपनी बात समाप्त की, तब उसके साथ ही साथ सुजाता के हृदय में क्रोध की आग जल उठी; और वह जलकर इस प्रकार भड़क उठी, मानों उसमें घी की आहुति पड़ गई हो। सुजाता भीतर ही भीतर उस आग से जलकर बोल उठी—हॉ, मैं क्यों न खाना बना लूँगी ? भीतर तुम आराम करो; और बाहर तुम्हारे छैला जी। मरने के लिये तो हमलोग है, जो मर-मरकर कमायें भी, और बना-बनाकर खाने के लिये भी दिया करे।

सुभागी अनेक बार सुजाता के मुख से अपने संबंध मे व्यंग्य सुन चुकी थी, और सुन चुकी थी ऐसी तीखी बात भी, जो इसमें सन्देह नहीं, कि बाण की ही भॉति उसके भीतर प्रवेश करके उसके अन्त-स्तल मे छिद्र बना देती थी, पर सुभागी के अधर कभी न खुलते थे। हूक उसके हृदय के भीतर से उठती अवश्य थी, पर कंठ तक पहुँचने के पूर्व ही सुभागी उसपर अपना दृढ़ आधिपत्य स्थापित कर लेती थी, पर आज सुजाता ने जो व्यंग्य किया, और अपने व्यंग्य के द्वारा उसने जो तीर सुभागी के हृदय मे प्रविष्ट कराया, उससे सुभागी के हृदय ने एक नई प्रकार की पीड़ा का अनुभव किया। ऐसी पीड़ा सुभागी के हृदय मे कभी नही उठी थी। यह नई पीड़ा जब सुभागी के हृदय मे उठी, तो उठकर ऑधी की भॉति सारे अन्तर्जगत मे डोल गई। सुभागी को ऐसा ज्ञात हुआ, मानों इस नई पीड़ा से उसके अन्तर के तार-तार झंकृत हो उठे है। सुभागी अपने भीतर के तारों की झनझनाहट के स्वर मे बोल उठी—यह तो तुम नाहक ही लांछन लगा रही हो जीजी ! भला हमलोग कहाँ बैठे रहते है ! देखती हूँ, दिन भर बाहर तो खटते रहते है।

हाँ जी भीतर तुम खटती रहती हो, और बाहर वे !—सुजाता बोल उठी—आराम की वंशी तो हम लोग बजाते है, जो दिन-दिन भर धूप में कचहरी में दौड़ा करते है ! मै कहे देती हूँ, इस प्रकार नही चलने का ! यदि खाना हो, तो काम करो, नहीं तो अपना हिस्सा-पाती लेकर अलग हो जाओ।

सुजाता अलग हो जाने की बात कह तो गई, पर न जाने क्यो भीतर ही भीतर उसका मन काँप उठा। ऐसी बात नही, कि सुभागी को अलग कर देने की बात कभी सुजाता के मन के भीतर उठी ही न रही हो; उठती अवश्य थी, पर वह भीतर ही भीतर चक्कर लगा कर रह जाती थी। आज जब वह अनायास ही बाहर निकल पड़ी, तब उसके औचित्य और अनौचित्य पर तो नही, किन्तु उसकी सफलता और असफलता की संदिग्धता से उसका हृदय अवश्य कंपित हो उठा। सुजाता के हृदय की भाँति काँप तो उठा सुभागी का हृदय भी, किन्तु उसके और सुजाता के हृदय-कंपन मे बड़ा अन्तर था। सुजाता का हृदय जहाँ यह सोचकर काँप रहा था, कि उसने जो वाण चलाया है, जाने उसका लक्ष्य ठीक सधेगा या नहीं, वहाँ सुभागी का हृदय एक अप्रत्याशित आघात से आन्दोलित होने लगा। सुभागी को ऐसा अनुभव हुआ, कि आज सुजाता के मुखसे एक नवीन और अद्भुत बात निकली है, किन्तु जब वह बात निकल ही गई; और उसने अपने उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये सुभागी के हृदय में प्रवेश किया, तो सुभागी का हृदय आन्दोलित होने के साथ ही साथ स्वाभिमान के चर्ख पर घूम गया; और वह बोल उठी—अलग करने का मन है, तो अलग कर दो जीजी ! जिस भगवान ने मुँह दिया है, वही खाने के लिये भोजन भी देगा।

सुजाता अलग करने की बात कह तो गई थी, किन्तु उसे आशा न थी, कि सुभागी उसकी बात का स्वागत करेगी। क्योंकि वह अपने

हृदय के भीतर सुदूर तक दृष्टि दौड़ाकर देख चुकी थी, कि सुभागी और उसका पति उसकी ही कृपा पर आश्रित है, किन्तु जब सुभागी ने उसकी बात का स्वागत किया, तब सुजाता के हृदय में जैसे क्रोध की चिनगारी सी छिटक उठी। वह भीतर ही भीतर उसी चिनगारी से उत्तप्त होकर बोल उठी—हाँ, हाँ मैं भी समझती हूँ, तुम्हें ईश्वर पर कितना विश्वास है! ईश्वर तुम्हारे ही लिये नहीं है, सबके लिये है। यदि ईश्वर पर बहुत भरोसा रखनेवाली हो, तो जब तक अलग न हो जाना, चारपाई से न उठना।

सुजाता की इस बात से सुभागी का हृदय दुख से परिपूर्ण हो उठा। उसके मनके भीतर जो स्वाभिमान उठ पड़ा था, वह दुखकी आगसे गल उठा, और सुभागी अवरुद्ध कंठ में बोल उठी—मैंने अलग हो जाने के लिये कब कहा, लेकिन जब आप अलग कर देने पर तुली हुई हैं, तो अलग होना ही पड़ेगा।

सुजाता ने सुभागी के कंठ पर ध्यान न देकर उसके कथन पर ही विशेष ध्यान दिया! यदि वह सुभागी के कंठ पर ध्यान देती तो हो सकता है, कि उसके भीतर की आग कुछ मन्द पड़ जाती, और उसकी वाणी मे भी कुछ कोमलता आ जाती, किन्तु उसने जो उसके केवल कथन पर ही ध्यान दिया, उससे उसके भीतर की आग और भी अधिक जल उठी; और वह उस आग को अपनी वाणी द्वारा बिखेरती हुई बोल उठी—हाँ, हाँ अलग हो न जाओ! तुम्हें शपथ है, जो आज बिना अलग हुये अन्न-जल ग्रहण करो। तुम समझती हो, जमीन जायदाद में आधा हिस्सा बँटा लोगी, पर इन सब मे एक रत्ती भी न मिलेगा। लोटा थाली, जो पुरखे छोड़ गये थे, उसमें चाहे जो ले लो!

तो मैंने यह कब कहा,—सुभागी दुख पूर्ण स्वर में बोल उठी—कि जमीन जायदाद मुझे बाँट दीजिये। मुझे कुछ न चाहिये।

चाहिये तो बहुत कुछ!—सुजाता बोल उठी—पर जब मिले, तब न!

पर अब सुभागी ने सुजाता की इस बात का कुछ उत्तर न दिया। यदि वह चाहती तो उत्तर दे सकती थी। क्योंकि उत्तर देने के लिये उसके हृदय में आँधी के झँकोरे की भाँति शब्द उठ रहे थे। पर सुजाता की इस अन्तिम बात से उसके हृदय में जो वेदना उभड़ पड़ी, उसने आँधी के उस झँकोरे को सुला दिया, और वह अधिक उदास होकर मन ही मन उस वेदना से खेलने लगी। पर सुजाता को यह आशा न थी, कि सुभागी इतने शीघ्र चुप हो बैठेगी। अतः जब सुभागी से उसे कुछ उत्तर न मिला; तब वह पुनः अपने आप ही बोल उठी--आज लौट कर आने दो! एक तिनके का दो टुकड़ा करके ही छोड़ूँगी!

सुजाता अपनी बात समाप्त ही कर रही थी, कि उसके पति, राममोहन ने घर में प्रवेश किया। यद्यपि राममोहन थके-माँदे कचहरी से सीधे घर चले आ रहे थे; और स्पष्टतः उनकी आकृति पर परिश्रम की क्लान्ति दृष्टि गोचर हो रही थी; पर जैसे वर्षाऋतु के प्रथम बादलों को उनया हुआ देखकर मुरझायी लता हरहराकर उठ बैठती है, उसी प्रकार सुजाता का हृदय राममोहन को देखते ही आवेग से परिपूर्ण हो उठा! आवेग तो पहले भी सुजाता के हृदय में था; किन्तु पहले आवेग जहाँ ईर्षा, क्रोध, और वैमनस्य का था; वहाँ अब उसका स्थान दुख ने ले लिया। सुजाता राममोहन को देखते ही फुफकार कर रो उठी! कह नहीं सकते, उसके उस रुदन में वेदना और दुःख का कितना अंश था; पर राममोहन के हृदय को द्रवीभूत करने के लिये पर्याप्त था। राममोहन ने विस्मित और पीड़ित होकर जब सुजाता से उसके रुदन का कारण पूछना आरंभ किया; तब पहले तो सुजाता ने कुछ बताया ही न! ऐसा ज्ञात होता था, मानों जिस वेदना की आग से उसका हृदय पिघल कर बह रहा है; उसकी आँच अधिक तीव्र है, पर जब राममोहन ने अधिक आग्रह किया; और बार बार विश्वास

और सहानुभूति का उस पर मरहम लगाया; तब वह कैकेयी की भाँति ही बोल उठी, और जब वह बोल उठी, तब यह कह नहीं सकते, कि दशरथ की भाँति ही;पर इसमें सन्देह नहीं, कि राममोहन की आकृति पर चिन्ता खेल गई, और उनका एक हाथ मस्तक पर जा पड़ा।

राममोहन सुजाता के संमुख अपनी इस अवस्था मे देर तक बैठे रहे! बीच-बीच में सुजाता स्वयं बोल कर उनकी मौन-स्थिति को भंग करने का प्रयत्न अवश्य करती थी, पर राममोहन की हृदय-वीणा इतनी स्पन्दन-हीन हो गयी थी, कि उससे 'हाँ' और 'ना' का अर्द्ध प्रस्फुटित स्वर भी निर्गत नहीं हो रहा था! कह नही सकते,कि उनके उस स्पन्दन हीन हृदय के भीतर ही भीतर कौन सी सृष्टि हो रही थी!

[२]

मनुष्य के दुर्बल मन के लिये स्वार्थ में बड़ा आकर्षण होता है। मन की अन्यान्य मानवीय प्रवृतियाँ बड़े यतन से चुन-चुन कर अपना बाजार लगाती हैं, किन्तु जब उस हाट में स्वार्थ का प्रवेश होता है, तो मन दया, सहानुभूति, समता और अहिसा प्रभृति मानवी प्रवृ-तियों को छोड़ कर उसी की ओर दौड़ पड़ता है, और इस प्रकार दौड़ पडता है, कि उसे फिर किसी की स्मृति तक नही रह जाती। इसमें सन्देह नही कि राममोहन के हृदय में अपने छोटे भाई, प्रमोद के लिये स्नेह था, और यद्यपि प्रमोद उनकी भाँति घर की आय बढानेमें सक्षम नही था, पर फिर भी उन्होंने कभी यह न सोचा, कि वे पैदा कर रहे हैं, और प्रमोद बैठ कर खा रहा है, इस लिये उसे अलग करके उसके भाग्य पर छोड़ दिया जाय, किन्तु जव उनकी पत्नी,सुजाता ने, उनके हृदय में स्वार्थ का अंकुर रोपा,और वह अंकुर वढ कर लह-लहानें लगा, तव उसने राममोहन के हृदय को चारो ओर से ढँक लिया और फिर राममोहन नें अपनी दृष्टि को, जीवनाकाश के स्वार्थ-नक्षत्र मे ही क्रेन्द्रित कर दिया।

राममोहन के पिता, महीपतराम जब मरे थे, तब छोड़ने के नाम पर वे केवल राममोहन के पास मुख्तारी छोड़ गये थे। उन्होंने राम मोहन को बड़े दुख के साथ लिखाया-पढ़ाया था। राममोहन को लेकर उनकी एक स्वर्णिम आकांक्षा थी। वे उस स्वर्णिम आकांक्षा की लकड़ी हाथ से पकड़कर जी रहे थे। इसमें सन्देह नहीं, कि यदि महीपत राम जीवित होते तो देखते, कि उनकी उजड़ी हुई वाटिका किस भाँति विहँस रही है, पर उन्हें यह देख कर अधिक दुख हुये भी बिना न रहता, कि हँसती हुई वाटिका के भीतर स्वार्थ की आँधी चल रही है, और वह उसकी हरी-हरी लताओं और शाखाओं को तोड़-फोड़ कर उसे फिर उसके प्राचीन स्वरूप में परिवर्तित कर देने के लिये तीव्रगति से हरहरा रही है! राममोहन ने बड़े परिश्रम से उस उजड़ी हुई वाटिका को सवाँर कर तैयार किया था! इसी लिये तो जब सुजाता ने राममोहन के हृदय में स्वार्थ का अंकुर लगाया तब राममोहन के हृदय की स्वार्थ पूर्ण ममता उस वाटिका में आसन जमाकर बैठ गई, और इस प्रकार बैठ गई, कि फिर राममोहन प्रमोद को कुछ न देने के लिये अपनी मुख्तारी की संपूर्ण कला का प्रयोग करने में भी न चूके!

राममोहन तहसील के अच्छे मुख्तार थे। मुख्तारी में उनकी कला प्रसिद्ध थी। न्याय को अन्याय, और सत्य को असत्य जब किसी को प्रमाणित करना होता था, तब वह राममोहन की ही कुशलता का अंचल पकड़ता था। राममोहन उसे फिर कानून का ऐसा खोल पहनाते थे, कि किसी को रंच मात्र सन्देह ही न होता था, कि यह असत्य है और यह अन्याय है! राममोहन जब अपने भाई प्रमोद को अलग करने लगे, तो सम्पत्ति का बँटवारा करने में भी उन्होंने अपनी उसी कानूनी कुशलता का प्रयोग किया। उन्होंने यह कह कर सारी सम्पत्ति का बँटवारा करने से अस्वीकार कर दिया, कि यह हमारी निज की

पैदा की हुई है। उन्होंने बॅटवारे के लिये जो चल और अचल सम्पत्ती छॉटी, वह कुल दो बीघा खेत, और एक पुराना मकान था। प्रमोद को बॅटवारे में एक बीघा खेत, और केवल पुराने मकान का एक भाग मिला। देखने वालो ने मन ही मन राममोहनकी इस कानूनी कुशलता की भर्त्सना की, किन्तु किसी में साहस न हुआ, कि वह इस बात को अपने ओंठ पर लाये। कौन इस बात को अपने ओंठ पर लाकर राममोहन के वैर का भाजन बनता। आये दिन तो उनसे सबका काम पडा ही करता था। मनुष्य को जब अपने स्वार्थ का स्मरण होता है; तब वह न्याय और सत्य को भूल जाने मे तनिक भी विलंब नहीं करता।

आज के समाज मे दुर्बलो के लिये 'सत्य' और 'न्याय' बिलकुल नहीं है। प्रमोद को भी 'सत्य' और 'न्याय' से वंचित ही होना पड़ा। यद्यपि कानून की दृष्टि से प्रमोद को सम्मिलित संपूर्ण संपत्ति का ठीक-ठीक अर्द्ध भाग मिलना चाहिये था; किन्तु जब राममोहन ने पूरी सम्पत्ति का बॅटवारा करने से अस्वीकार कर दिया, और न्याय की पुकार करने पर भी किसी ने प्रमोद का पक्ष न लिया तो प्रमोद का हृदय पीडा से मथ उठा। वह राममोहन की तरह पढा-लिखा तो न था; पर राममोहन से कही अधिक मानवता प्रमोद के हृदय में थी। उसके द्वारा भले ही घर की आय मे वृद्धि न हुई हो, पर कुटुम्ब की मानवीय आय में उसके द्वारा सदा से वृद्धि होती रही है! जब कभी सुजाता और सुभागी में किसी बात को लेकर विवाद खड़ा हो जाता, तब वह विवाद में सुजाता का ही पक्ष लिया करता था। सुजाता के पक्ष का समर्थन करते हुये वह कभी कभी सुभागी की भर्त्सना भी कर दिया करता था। उसके हृदय में दुख की लहरे सी नाच उठी, जब उसने यह सुना, कि उसके वड़े भाई राममोहन उसे अलग करना चाहते है! उसने यथा शक्ति प्रयत्न किया, कि जो आग उठ पड़ी है,

वह अधिक न बढ़ कर अपने स्थान पर ही बुझ जाय; पर जब उसने देखा, कि उसके भाई राममोहन स्वयं उस आग को प्रज्वलित करने में फूँक मार रहे हैं; तब उस का हृदय दुख से मथ उठा। उस समय उसका हृदय और भी अधिक दुख से मथ उठा, जब उसने देखा, कि राममोहन सम्पत्ति का बँटवारा करने में अन्याय से काम ले रहे हैं; और एक भी ऐसा मनुष्य नहीं है, जो उनके अन्याय के विरोध में अपने हृदय की सहानुभूति उसे प्रदान कर सके! प्रमोद का हृदय भीतर ही भीतर क्रन्दन कर उठा, और उसने मन ही मन यह दृढ निश्चय किया, कि वह न तो बँटवारे में मिला हुआ अपना भाग लेगा; और न अब यहाँ रहेगा। सुभागी ने प्रमोद के इस निश्चय को तोड़ने का अधिक प्रयत्न किया। उसने प्रमोद को समझाया, कि वह उसके पीहर से सहायता लेकर न्यायालय की शरण ले, पर प्रमोद को उसका यह विचार अधिक तुच्छ सा लगा, कि वह सम्पत्ति के लिये अपने भाई पर अदालत मे नालिश करे!!

प्रमोद अपने विचार पर दृढ़ रहा, और एक दिन वह नेत्रों में अश्रु भर कर अपनी स्त्री और बच्चे को लेकर भाग्य के भरोसे अपने स्थान से विदा हो गया। जब वह अपना स्थान छोड़ रहा था, तो राममोहन तो घर पर नही थे, पर सुजाता थी। प्रमोद जाते समय सुजाता का पैर छू लेना चाहता था। अतः वह अधिक साहस करके सुजाता के पास गया, किन्तु सुजाता ने उसे देखते ही अपना मुँह मोड़ लिया, और प्रमोद की आँखों मे भरे हुये आँसू 'टप्, टप्' भूमि पर गिर पड़े। सचेतन की संज्ञा से पूर्ण सुजाता ने उन अश्रु-बूँदों को देखा भी, या नही, पर मूक पृथ्वी ने मोतियों की भाँति झड़ता हुआ देख कर उन्हें अपने अंचल में ले लिया।

[३]

सुजाता का गार्हस्थ्य जीवन बड़े सुखसे बीत रहा था। जब उसने

सुभागी को अलग किया था, और सुभागी भी अपने पति की ही भाँति साश्रु नेत्रों से पास-पड़ोस की स्त्रियों से विदा माँगकर घर छोड़ रही थी, तब कई स्त्रियों के मुखसे उसके प्रति सान्त्वना के शब्द निकलने के साथ ही साथ ये शब्द भी निकल गये थे, कि सत्र का फल बड़ा मधुर होता है, और अधर्म मुँह फैलाकर मनुष्य को निगल जाता है, किन्तु जब कुछ दिनों के पश्चात् भी सुजाता की गृहस्थी मे धब्बा न लगा; और उसकी कला दिन प्रति दिन अधिक बढने लगी, तब सुजाता का वह हृदय, जो उन स्त्रियों की 'अधर्म' की बात सुनकर काँप उठा था; और जिसमे स्वयं ही सुभागी के प्रति किये गये व्यवहारो को सोच-सोचकर भय और आशंका की तरंगे उठा करती थी, अभिमान से फूल उठा, और सुजाता अपने को सही मार्ग पर समझने लगी। कभी-कभी वह ताने ओर व्यंग्य के रूपमे उस स्त्री के सामने, जिसने 'अधर्म' की व्याख्या की थी, या जो उस व्याख्या मे सम्मिलित थी, अपने हृदय का गर्व प्रगट भी कर दिया करती थी। सुजाता को इस बात की बिल्कुल चिन्ता नही रहती थी, कि जिसके सम्मुख वह अपना गर्व प्रगट कर रही है, उसका हृदय उसे किस रूपमे ग्रहण कर रहा है, पर उसें सबसे अधिक चिन्ता इस बात की रहती थी; कि उसके गर्व मे उसके हृदय की जितनी अधिक ऐंठ प्रगट हो सके, हो।

राममोहन की मुख्तारी हाथ फैलाकर धन बटोर रही थी। पर सुजाता के हृदय मे सन्तोष का चिह्न तक न था। ज्यों ज्यो धन बढ़ रहा था, त्यो त्यों सुजाता के मन की स्पृहा भी बढती जा रही थी, और जब सुजाता के मन की स्पृहा बढ रही थी, तब राममोहन के हृदय मे भी उसकी प्रेरणा होती ही थी; और वे अपनी आरक्त रसना निकालकर इधर-उधर देखने लगते थे। निदान, पति-पत्नी ने एक राय होकर व्याज पर रुपये देने आरंभ कर दिये। पुरुषो मे राममोहन

इस काम को करते थे; और स्त्रियों में सुजाता। लोग कहते है, कि व्याज का धन जल के वेग की भाँति बढ़ता है। मैं कह नहीं सकता, कि लोगों के इस कथन में सत्य का कितना अंश है, पर यह बात तो सुनिश्चित रूपसे कही जा सकती है, कि जब राममोहन ने ब्याज पर रुपया देना आरंभ किया, तो कुछ ही दिनों में उनका धन जल के वेग की भाँति बढ़ गया, और इतना बढ़ गया, कि अब राममोहन मुख्तारी छोड़कर स्वतंत्र रूप से रुपयों के व्यवसाय में ही लग गये।

यद्यपि राममोहन के रुपयोंके ढेर के नीचे न जाने कितनी करुणा से लिपटी हुई उज्वल आँखे सिसक रही थीं; और न जाने कितनी दीर्घ निश्वासे घुट-घुटकर अपना तार तोड़ रही थीं, पर राममोहन और सुजाता ने कभी उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। इसके प्रतिकूल पति-पत्नी; और भी उनपर रुपयों का ढेर लगाते गये। राममोहन और सुजाता ने सदा रुपयों की ओर ही अपना ध्यान रक्खा। रुपयों के अतिरिक्त संसार में मानव का हृदय भी होता है, इस ओर राममोहन और सुजाता ने कभी ध्यान भी नहीं दिया। इसका परिणाम यह हुआ, कि रुपया तो राममोहन ने एकत्र किया, पर मानव हृदय की सहानुभूति से पति-पत्नी पूर्णतः वंचित रहे। भले ही उनके सामने किसी के अधर पर बात न आती थी, पर यह तो सन्देह रहित है, कि न जाने कितने हृदयों में उनके सर्वनाश के लिये अभिशाप की आग धधक रही थी।

सुजाता अभिशाप की इस आग से भले ही अपरचित रही हो; पर राम मोहन तो स्पष्ट रूप से देख रहे थे; कि न जाने कितनी आखे उनके विनाश के लिये ईश्वर के सामने अपना अंचल पसारे हुये हैं, और न जाने कितने मूक हृदय, उन्हें ढँक लेने के लिये, अपने अभिशापों का सघन धूम छोड़ रहे हैं। उन आँखों और उन हृदयों में कभी-कभी राममोहन को उनके भाई प्रमोद की आँखें और उसका

हृदय भी दृष्टिगोचर होता था। इसस राममोहन के हृदय में कभी-कभी ग्लानि अवश्य उत्पन्न हो जाती थी, पर यह ग्लानि वह ग्लानि न होती थी, जो मनुष्यकी आत्मा को विकंपित कर देती है, और जिसमें मनुष्य के मनमें विरक्ति उत्पन्न कर देने की अगाध शक्ति होती है। उस ग्लानि से इसमें सन्देह नहीं कि कॉप तो राममोहन का हृदय भी उठता था, पर वह कम्पन थोड़ी ही देर तक रहता था। अर्थ का भयानक लोभ जो उनके अन्तर के कोने मे जन्म जात संस्कार की भॉति समाया हुआ था, उससे उसमे फिर स्थिरता आ जाती थी, और वे सब कुछ भूल कर फिर अर्थ के मार्ग पर तीव्र गति से दौड़ने लगते थे।

राममोहन जब मुख्तारी छोड़कर स्वतंत्र रूप से व्यवसाय करने लगे, और जब उन्नति पंख फैलाकर चारो ओर उनके समीप आने लगी तब उनके मनमे और भी अधिक स्पृहा जागृत हो उठी। वे फाटका खेलने लगे। फाटका में भी लक्ष्मी ने राममोहन के पैरो को चूमा! देखते ही देखते राममोहन करोड़ों के अधिपति हो गये; पर फिर भी क्या उनकी लालसाओं का अन्त हुआ? कदाचित् मनुष्य की लालसाओंका कभी अन्त होता ही नहीं? यदि मनुष्यका वश चले,तो उस समय भी वह अपनी लालसाओं की हाट लगाने से न चूके, जिस समय उसका पार्थिव संसार धू-धू कर आग से जलता रहता है।

लालसाये मनुष्य के मनको अधिक प्रिय होती हैं। जितनी तीव्रता के साथ मनुष्य इनके पीछे दौडता है, उतनी तीव्रता के साथ कभी मनुष्य के पीछे वह नहीं दौड़ती, जिसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है, कि वह मनुष्य का जनक है। पर कदाचित् मनुष्य यह नहीं जानता, कि लालसाये उसे अपने अङ्क मे चिपकाकर भागती तो है, पर उसे मरुस्थल में लेजाकर पटक भी देती है! बड़ी दुर्गति करती

हैं-ये लालसायें मनुष्य की उस मरुस्थल में ! नाम लेने वालों में केवल चील्ह और कौवे ही उसका नाम लेते है,और क्रोध से अपने नेत्र लाल-लाल करके उस पर चोंच मारते है।

राममोहन भी लालसाओं को सुखद समझ करके ही उनके साथ दौड़े थे। इसमें सन्देह नही, कि लालसाओं ने राममोहन को बड़े-बड़े हरे उपवन दिखाये, पर अपने स्वभाव और धर्मके अनुसार आखिर उन्हें भी मरुस्थल में लेजाकर पटक ही दिया! राममोहन जिस प्रकार फाटके में देखते-देखते करोड़ों के अधिपति बने थे, उसी प्रकार फाटके में देखते-देखते वे दरिद्र भी बन गये ! उन पर इतना ऋण हो गया, कि घर का जो वास्तविक धन था, उसकी आग मे वह भी स्वाहा हो गया। राममोहन की कमर टूट गई, और वे ऐसे झुके, कि पृथ्वी पर और भी झुकने के लिये कही स्थान ही नहीं रह गया।

अर्द्ध रात्रि का समय था ! राममोहन चारपाई पर पड़े हुये थे। पास ही एक और चारपाई थी; जिस पर सुजाता अपने दो बच्चोंके साथ सो रही थी। पर राममोहन की आँखों में नीद नही। उनकी आँखों के सामने रह-रह कर वे दिन आ रहे थे; जब वे मुख्तारी कर रहे थे, और उनका भाई प्रमोद उनके साथ ही रहता था। वे मुख्तारी करते थे, और प्रमोद घर का सारा काम-काज सँभाले हुये था। कितनी शान्ति रहती थी मनमें उस समय ! दिन भर के परिश्रम के पश्चात् जब थके माँदे घर आते थे; तो प्रमोद के प्यार भरे 'भैया' शब्द से ही सारी क्लान्ति दूर हो जाती थी, और प्रमोद का वह छोटा सा शिशु जब छाती पर लोट-लोट कर 'दादा, दादा' कह उठता, तब तो जैसे सुख और शान्ति की एक धारा—सी प्रवाहित हो उठती थी। प्रमोदकी स्त्री, वह सुभागी ! राममोहन के घर में प्रवेश करते ही पंखा और शीतल जल का गिलास लेकर सामने खड़ी हो जाती। उसकी

सरलता और भक्ति से कैसा शुभ्र चन्द्र हृदय केआकाश में उदित हो उठता था, पर सुजाता ... ! सुजाता ने अर्थ की लालसा हृदय में उत्पन्न करके सुख का वह वास्तविक संसार धूलि में मिला दिया।

राममोहन अपनी मुख्तारी के दिनों के चित्रों को देख-देख कर मन ही मन दुख से अधिक कातर हो रहे थे। वे अपने इन दिनों के चित्रों से, कभी कभी उन चित्रो की समता भी करते थे, जब वे करोड़ों के अधिपति थे। यह सच है, कि वे करोड़ो के स्वामी थे, पर कभी क्या उनके मन में शान्ति थी ? दिन-रात अर्थ-लोभ के फन्दे मे आग्रस्त होकर इधर से उधर परिभ्रमण किया करते थे। उन्होने अर्थ का संचय करने में कभी मानवता का समादर नहीं किया। जब कभी गिडगिड़ाती और कॉपती हुई ऑखे, उनके समक्ष आई होगी, तब उन्होंने कुछ देने के स्थान पर दुतकार ही दिया होगा। वह ब्याज का पैसा! यह सच है, कि पैसा जल के प्रवाह में बह गया; पर क्या यह सच नही है, कि उसके नीचे शत-शत करुणा से लिपटी हुई मूक ऑखे दबी थी, जो अब भी अपनी चिर मौनिमा में अभिशाप उगल रही है !

राममोहन को ऐसा ज्ञात हो रहा था; मानों रात्रि के अंधकार में सचमुच सैकड़ों श्वेत और खूनी ऑखे उनकी ओर देख रही है। राम-मोहन के हृदय के भीतर रह-रह कर लहरों की भॉति कंपन उत्पन्न हो रहा था; और ऐसा ज्ञात हो रहा था, मानों उनका सारा अन्तर्लोक ही दुख से बैठा जा रहा है। राममोहन के हृदय का दुख उस समय और भी अधिक बढ जाता; जब उनकी दृष्टि अपने वर्तमान जीवन पर जाकर रुक जाती। कितना कष्ट पूर्ण हो गया था राममोहन का वर्त-मान जीवन। राममोहन कभी घर से बाहर न निकलते थे। उन्हे ऐसा लग रहा था; जैसे उनकी आकृति पर कलंक की घनतर कालिमा पुती हो ! एक भी कोई ऐसा व्यक्ति न था, जो उनके प्रति सहानुभूति लेकर आता ! राममोहन ने कभी सहानुभूति का समादर किया ही

नहीं-! जो कभी दिन रात उनके चरणों के पास बैठे रहते थे, आज वे भी उनसे अपनी परछाई बचाते हुये फिरते हैं! चारों ओर से उनकी टूटी हुई कमर के ऊपर व्यंग्य और अपवादों की वर्षा !!

राममोहन दुख से कॉप उठे। वे मन ही मन, कुछ देर तक दुख से कॉप कर सोचते रहे। फिर सुजाता की ओर लक्ष्य करके बोल उठे—क्यों, सो रही हो ?

यद्यपि सुजाता की आँखों में नीद थी; पर जब राममोहन ने उससे प्रश्न किया, तब वह अंचकचाकर अर्द्ध-प्रस्फुटित स्वर में बोल उठी—नहीं तो, क्या है ?

पर राममोहन के मुखसे शीघ्र कोई बात निकल न सकी। वे सुजाता से प्रश्न करके पुनः गंभीरता के समुद्र में निमग्न से हो उठे थे। सुजाता अपनी बात समाप्त करके मौन हो गई। उसे इस बात की प्रतीक्षा भी न थी, कि राममोहन उससे कुछ कहेंगे। पर राममोहन कुछ देर तक मौन रहकर अपने आप ही फिर बोल उठे—प्रमोद की तरह मैं भी कल्ह इस स्थान को छोड़ दूँगा।

क्यों ?—सुजाता चकित होकर बोल उठी !

पर राममोहन ने सुजाता के इस 'क्यों' का कुछ उत्तर न दिया, और जब प्रभात हुआ, तो अडोस पडोसवालों ने देखा, कि राममोहन भी अपने भाई प्रमोद की भाँति अपना पैतृक घर छोड़कर चले जा रहे हैं। उनके और प्रमोद के घर-परित्याग में इतना ही अन्तर था, कि प्रमोद जब अपना घर छोड़कर जब जाने लगा था, तो अड़ोस-पड़ोसवालों की ऑखों से ऑसू निकल आये थे, किन्तु अब जब राम-मोहन घर छोड़ रहे थे, तब लोग कर रहे थे उनपर व्यंग्य वर्षा !

[४]

दोपहर का समय था। कलकत्ता मे बहू बाजार की सड़क की पटरी से दो स्त्री-पुरुष शनैः शनैः आगे बढ़े जा रहे थे। साथ में दो

बच्चे भी थे, जिनमें एक तो पुरुष की अँगुली पकड़े हुये था, और दूसरा स्त्री की गोद में था। दोनों ही यद्यपि विस्मित दृष्टि से इधर-उधर देख रहे थे, पर ऐसा लगता था, मानों उन्हें कई महीने से भोजन और वस्त्र की असुविधा रही हो। स्पष्टतः उनकी आकृति पर वेदना के चिह्न थे; और नेत्रों से औदास्य टपक रहा था। पुरुष और स्त्री की आकृति तो बिलकुल उधड-सी गई थी। रूखे रूखे बाल, और आकृति पर चिन्ता की झुर्रियाँ पड़ी हुई। देखने से ही यह ज्ञात हो जाता था, कि उनके हृदय के भीतर कोई भयानक अग्नि है, जिसने उनका भीतर और बाहर दोनों ही जला कर भस्म कर दिया है।

चिन्ता तो थी स्त्री की आकृति पर भी, पर उसकी आकृति पर उतनी गंभीरता नहीं थी, जितनी पुरुष की आकृति पर। पुरुष तो जैसे चिन्ता के साथ गंभीरता की लहरियों से क्रीड़ा-सा कर रहा हो। वह हाथ से अपने बच्चे की उँगली पकड़े हुये इस प्रकार शनैः शनै आगे बढ रहा था, मानों उसके पैरों मे शत-शत मन का भार बँधा हो। वह कभी-कभी इधर-उधर देखने भी लगता। कभी जब किसी बहुत बड़ी कोठी के सामने से निकलता तो, उसके द्वार पर कुछ देर के लिये ठिटक भी जाता। कदाचित् कोठी को देखकर उसके मनमें नौकरी की आशा जागृत हो उठती हो, या और अन्य प्रकार की सहायता की आकांक्षा से उसका मन आन्दोलित होने लगता हो।

पर किसी कोठी के भीतर जाने का सहसा उसे साहस न होता; और न सहसा उसे इस बात का ही साहस होता, कि वह किसी से कुछ कहे। वह केवल कुछ देर तक स्थिर होकर रूखी दृष्टि से कोठी की ओर देखता, और फिर अपनी अनिश्चित अनन्त यात्रा में तार जोड़ने लगता। उसके हृदय की विवश आशा और आकांक्षा। उसका रहस्य बड़ा निगूढ है।

इस प्रकार जब वह आगे बढता हुआ एक कोठी के द्वार

घर पहुँच रहा था, तब उसके पहुँचने के साथ ही एक मोटर द्वार पर आकर रुक गई, और एक संभ्रान्त व्यक्ति मोटर का द्वार खोल कर निकल पड़ा। पुरुष उस व्यक्तिके संमुख पड़ना तो नहीं चाहता था, पर जब वह द्वार खोलकर बाहर निकला तो बरसातीमें वह उसके सामने पड़ ही गया। दोनों की आँखें अनायास ही एक दूसरे से मिल गई। पुरुष बरसाती लाँघ कर आगे बढ़ा और व्यक्ति कोठी में सीढियों के ऊपर! सीढ़ियों के ऊपर रुककर उसने फिर पीछे की ओर देखा। जैसे चलते-चलते उसे किसी बात का स्मरण हो आया हो।

पीछे जब उसे कोई दृष्टिगोचर न हुआ, तो वह पुनः एक सीढी ऊपर गया, और फिर उसने रुक कर पीछे की ओर देखा। द्वार पर चपरासी बैठा हुआ था। एक पैर ऊपर की सीढ़ी पर, और दूसरा नीचे की सीढी पर रक्खे हुए वह व्यक्ति मन ही मन कुछ देर तक सोचता रहा। जैसे वह किसी वस्तु का तारतम्य ठीक कर रहा हो, या अपनी किसी धुँधली स्मृतिको स्पष्ट करनेका प्रयत्न कर रहा हो।

कह नही सकते, कि उसका तारतम्य ठीक हुआ या नही, और उसकी धुँधली स्मृति स्पष्ट हो सकी या नही, पर वह कुछ ही क्षणों के पश्चात् पुनः पीछे की ओर मुड़ पड़ा। उसने बरसातो में पहुँच कर एक बार सामने पटरी पर दृष्टि डाली। फिर वह द्रुत गति से सामने हो की ओर चल पड़ा। अभी जिस पुरुष की आँखों से उसकी आँखे मिल गई थी, और जो अपनी स्त्री और बच्चों के साथ अपनी अनिश्चित अनंत यात्रा में तार जोड़ने में संलग्न था, वह द्रुत गति से चलकर, उसके आगे जाकर पहुँचगया। उसने एक बार आँखों के कौशल से, स्त्री-पुरुष दोनों को ही ध्यान से देखा, फिर कुछ देर तक मन ही मन सोचता रहा, और फिर जैसे आँधी के । से लता, लता की ओर झुक पड़े!

"भैय्या"! व्यक्ति झपट कर पुरुष के गले से लिपट गया।

पुरुष ने चकित होकर व्यक्ति की ओर देखा, और उसके मुखसे निकल पड़ा—प्रमोद !!

हाँ वह प्रमोद ही था, जो राममोहन के ज्ञान-कौशल से उदासीन होकर घर छोड़कर कलकत्ता चला आया था ; और अपने पुरुषार्थ से अब करोड़ो का स्वामी था। पाठक, आप समझ गये होंगे, कि वह पुरुष कौन था ? वे थे वही राममोहन मुख्तार।

राममोहन की आखे सजल हो उठी, और थोड़ी ही देर में प्रमोद की छाती उनके आँसुओसे अभिषिक्त सी हो उठी। प्रमोद की आँखे भी टप्-टप् मुक्तादान करने लगी ! दोनों की आँखों का मुक्तादान ! मूक पृथ्वी और मौन आकाश ही उसका मूल्य आँक सकता है !

समाप्त

मुद्रक-प० बैकुंठनाथ भार्गव आनन्द सागर प्रेस गायघाट, बनारस।